दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९२ तंत्री जगजीवन बाउचंद दोशी वर्ष २२ अंक नं० २

श्रुतधाम का संस्मरण

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

जेठ सुदी पंचमी : श्रुतपंचमी के महान पर्व का उत्सव मनाने में चार पवित्र श्रुतधाम का स्मरण होता है।

१. प्रथम श्रुततीर्थ – राजगृही का विपुलाचल... कि जहाँ श्री वीरप्रभु ने श्रुतामृत (जिनवाणी) का परम प्रपात-प्रवाह बहाया और गणधरदेव ने झेलकर द्वादशांगरूप शास्त्र रचे।

२. दूसरा श्रुततीर्थ-पोन्नूर हिल जहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने परमागम शास्त्र समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय संग्रह, अष्टपाहुड़ आदि की रचना की। तथा—

३. गिरनार की चन्द्रगुफा-कि जहाँ धरसेनाचार्य ने आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि मुनिवरों को षट्खंडागम श्रुतज्ञान पढ़ाया।

४. पश्चात् अंकलेश्वर-जहाँ वह जिनवाणी पुस्तकरूप श्रुत निबद्ध हुई और जेठ सु० ५ को श्रीसंघ ने श्रुत का महोत्सव मनाया।

मूड़बिद्रि... जहाँ श्री जिनवाणी ताड़पत्र में सुरक्षित विराजमान है जो हम धर्मजिज्ञासुओं को प्राप्त है। नमस्कार हो उन श्रुतदाता सन्तों को और जिनवाणी माता को।

(ह० जैन)

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

जून १९६६] वार्षिक मूल्य २) (२५४) एक अंक २५ पैसा [ज्येष्ठ सं० २०२३

सुवर्णपुरी-समाचार

सोनगढ़—तारीख ४-६-६६ परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख शांति में विराजमान हैं। प्रवचन में सवेरे इष्टोपदेश तथा दोपहर को श्री नियमसारजी शास्त्र चलता है। तारीख ६-६-६६ से सवेरे प्रवचन में श्री योगीन्दुदेव आचार्यकृत योगसार प्राकृत दोहा पर प्रवचन शुरु होंगे।

उत्सव—गुजराती तिथि वैशाख बदी ६ वही उ०प्र० में जेठ बदी ६ मानी जाती है, उसी दिन समवसरण जी जिनमंदिर का उत्सव मनाया गया, जिनेन्द्र रथयात्रा, भक्ति आदि विशेष कार्यक्रम सहित-

बदी ८ श्री समयसारजी शास्त्रजी की मंगल स्थापना की २९वीं वर्षगांठ का उत्सव मनाया गया। शास्त्रजी को पालखी में विराजमान करके रथयात्रा निकाली गई बाद भक्ति का विशेष कार्यक्रम स्वाध्याय मंदिर में रखा गया।

श्रुतपंचमी—जेठ सुदी पंचमी के दिन भी हरसाल माफिक जिनवाणी—शास्त्रजी को पालखी में विराजमान करके रथयात्रा के रूप में जुलूस निकालकर स्वाध्याय मंदिर में विशेष भक्ति का कार्यक्रम रखा था।

अशोकनगर (म०प्र०) जिनेन्द्रवेदी प्रतिष्ठा महोत्सव

तारीख २३-२४-२५ को सानंद समारोह पूर्वक सम्पन्न हुआ। जिसमें खास आमंत्रण से आये हुए श्री पंडित बाबूभाई मेहता (फतेहपुर निवासी) के प्रवचनों से जैन जैनेतर समाज को काफी लाभ हुआ, धर्म प्रभावना हुई तथा लगभग ३५ हजार के दान की भी घोषणा हुई।

—अमोलखचंद जैन

विषय-सूची

	विषय
१	सम्यग्दर्शन की महिमा
२	समाधिमरण स्वरूप
३	जगत से न कुछ लेना, न जगत को कुछ देना है
४	समयसार
५	कोई नहीं अपना इस जग में (कविता)
६	सम्यग्दृष्टि की आत्मसाधना
७	सम्मेदशिखर की यात्रा करके उतर रहे थे तब.....
८	पूर्ण मालिका मंगल
९	सम्यग्दर्शन के लिये आत्मार्थी का उल्लास और निर्विकल्प अनुभूति
१०	वैराग्यमय जीवन
११	मोक्षमार्ग कहाँ से प्राप्त हो
१२	'ही' [ही कब अमृत और कब जहर]
१३	आत्म-धर्म
१४	अज्ञानी का मिथ्या अभिप्राय
१५	निज वैभव दर्शन
१६	आत्मा
१७	आध्यात्मिक भजन
१८	धर्मात्मा की मुनि भक्ति
१९	सौराष्ट्र की श्रुतवत्सल संत त्रिपुटी
२०	श्रुत पंचमी
२१	षट्खंडागम अमृत का फल
२२	परम श्रुत षट्खंडागम
२३	ज्ञानी महात्मा की पहिचान और सत्संग की दुर्लभता
२४	विविध समाचार

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

: संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला)

जून : १९६६ ☆ वर्ष २२वाँ, ज्येष्ठ वीर नि०सं० २४९२ ☆ अंक : २

सम्यग्दर्शन की महिमा

तीन लोक तिहुँकाल मांहि नहिं, दर्शन सो सुखकारी;
सकल धरम को मूल यही, इस बिन करनी दुखकारी।
मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान-चरित्रा;
सम्यक्ता न लहे सो दर्शन, धारे भव्य पवित्रा।
'दौल' समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवे,
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवे।

सम्यक्त्व की महिमा बतलाकर उसे धारण करने की प्रेरणा देते हुए पंडित श्री दौलतरामजी छहढाला में कहते हैं कि—तीन लोक और तीन काल में सम्यग्दर्शन के समान सुखकारी अन्य कोई नहीं है; वही सब धर्मों का मूल है और उसके बिना सब करनी (क्रियाएँ) दुःखरूप हैं। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष महल का प्रथम सोपान है, इसके बिना ज्ञान या चारित्र सम्यक्ता प्राप्त नहीं करते (सम्यक् नहीं कहे जाते)। इसलिये हे भव्यो! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो। दौलतरामजी कहते हैं कि—हे सयाने! तू चेत और काल व्यर्थ मत गँवा... यदि ऐसा अवसर पाकर सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया तो फिर यह मनुष्यभव मिलना कठिन है।

समाधिमरण स्वरूप

(गतांक से आगे)

सम्यग्दृष्टि पुरुष ऐसा नियम कर स्वरूप में उपयोग लगावे और उसमें उपयोग नहीं लगे तो अरिहंत और सिद्ध के स्वरूप का अवलोकन करे और उनके द्रव्य, गुण, पर्याय का विचार करे। ऐसा विचार करते हुए उपयोग निर्मल हो, तब फिर उसे (उपयोग को) अपने स्वरूप में लगावे। अपने स्वरूप जैसा अरिहंतों का स्वरूप है और अरिहंत-सिद्ध का स्वरूप जैसा अपना स्वरूप है। अपने (मेरी आत्मा के) और अरिहंत-सिद्धों के द्रव्यत्वस्वभाव में अंतर नहीं है किंतु उनके पर्यायस्वभाव में अंतर है ही। मैं द्रव्यत्वस्वभाव का ग्राहक हूँ, इसलिये अरिहंत का ध्यान करते हुए आत्मा का ध्यान भली प्रकार सधता है और आत्मा का ध्यान करते हुए अरिहंतों का ध्यान भली प्रकार सधता है। अरिहंतों और आत्मा के स्वरूप में अंतर नहीं है। चाहे अरिहंत का ध्यान करो या चाहे आत्मा का ध्यान करो, दोनों समान हैं। ऐसा विचार करता हुआ सम्यग्दृष्टि पुरुष सावधानीपूर्वक स्वभाव में स्थित होता है।

सम्यग्दृष्टि अब क्या विचार करता है और कैसे कुटुम्ब, परिवार आदि से ममत्व छुड़ाता है, सो कहते हैं। वह सबसे पहले अपने माता-पिता को समझाता है:—

"अहो! इस शरीर के माता-पिता! आप यह अच्छी तरह जानते हो कि यह शरीर इतने दिनों तक तुम्हारा था, अब तुम्हारा नहीं है। अब इसकी आयु पूरी होनेवाली है, सो किसी के रखने से वह रखा नहीं जा सकता। इसकी इतनी ही स्थिति है, सो अब इससे ममत्व छोड़ो! छोड़ो! अब इससे ममत्व करने से क्या फायदा? अब इससे प्रीति करना दु:ख ही का कारण है। इन्द्रादिक देवों की शरीर पर्याय भी विनाशीक है। जब यह मृत्यु समय आवे, तब इन्द्रादिक देव भी दु:खी होकर मुँह ताकते रह जाते हैं और अन्य देवों के देखते-देखते काल के किंकर उन्हें उठा ले जाते हैं, किसी की यह शक्ति नहीं है कि काल के किंकरों से उन्हें क्षणमात्र भी रोक ले। इस प्रकार ये काल के किंकर एक-एक को ले जाते सबको ले जायेंगे। जो अज्ञानवश होकर काल के अधीन रहेंगे, उनकी यही गति होगी। सो तुम मोह के वश होकर इस पराये शरीर से ममत्व करते हो और इसे रखना चाहते हो, तुम्हें मोह के वश होने से, संसार का चरित्र झूठा नहीं

लगता है। दूसरे का शरीर रखना तो दूर तुम अपना शरीर तो पहले रखो, फिर औरों के शरीर के रखने का उपाय करना। आपकी यह भ्रमबुद्धि है, जो व्यर्थ ही दु:ख का कारण है किंतु यह प्रत्यक्ष होते हुए भी तुम्हें नहीं दिख रहा।

संसार में अब तक काल ने किसको छोड़ा है ? और अब किसको छोड़ेगा ? हाय! हाय!! देखो, आश्चर्य की बात कि आप निर्भय होकर बैठे हो, यह आपकी अज्ञानता ही है। आपका क्या होनहार है ? यह मैं नहीं जानता हूँ। इसीलिये आपसे पूछता हूँ कि आपको अपना और पर का कुछ ज्ञान भी है ! हम कौन हैं ? कहाँ से आए हैं ? यह पर्याय पूर्ण कर कहाँ जाएँगे ? पुत्रादि से प्रेम करते हैं, सो ये भी कौन हैं ? हमारा पुत्र इतने दिन तक (जन्म लेने से पहले) कहाँ था, जो इसके प्रति हमारी ममत्वबुद्धि हुई और हमें इसके वियोग का शोक हुआ ? इन सब प्रश्नों पर सावधानीपूर्वक विचार करो और भ्रमरूप मत रहो।

आप अपना कर्तव्य विचारने और करने से सुखी होओगे। पर का कार्य या अकार्य उसके (पर के) हाथ है (अधीन है), उसमें आपका कर्तव्य कुछ भी नहीं है। आप व्यर्थ ही खेद खिन्न हो रहे हैं। आप मोह के वश होकर संसार में क्यों डूबते हैं ? संसार में नरकों के दु:ख आप ही को सहने पड़ेंगे, आपके लिए और कोई उन्हें नहीं सहेगा। जैनधर्म का ऐसा उपदेश नहीं है कि पाप कोई करे और उसका फल भोगे दूसरा। अत: मुझे आपके लिये बहुत दया आती है, आप मेरा यह उपदेश ग्रहण करें, करें। मेरा यह उपदेश आपके लिये सुखदाई है।

मैंने तो यथार्थ जिनधर्म का स्वरूप जान लिया है और आप उससे विमुख हो रहे हैं, इसी कारण मोह आपको दु:ख दे रहा है। मैंने जिनधर्म के प्रताप से सरलतापूर्वक मोह को जीत लिया है। इसे जिनधर्म का ही प्रभाव जानो। इसलिए आपको भी इसका स्वरूप विचारना कार्यकारी है। देखो! आप प्रत्यक्ष ज्ञाता, दृष्टा आत्मा हैं और शरीरादिक परवस्तु हैं। अपना स्वरूप अपने स्वभावरूप सहज ही परिणमता है, किसी के रखने से वह (परिणमन) रुकता नहीं है किंतु भोला जीव भ्रम खाता है। आप भ्रमबुद्धि छोड़ें और स्व-पर का भेद विज्ञान समझें, अपना हित विचार कर कार्य करें। विचक्षण पुरुषों की यही रीति है कि वे अपना हित चाहते हैं, वे निष्प्रयोजन एक कदम भी नहीं रखते।

आप मुझ से जितना ज्यादा ममत्व करेंगे, उतना ज्यादा दु:ख होगा, उससे कार्य कुछ भी बनेगा नहीं। इस जीव ने अनंत बार अनंत पर्यायों में भिन्न-भिन्न माता-पिता पाये थे, वे अब कहाँ गये ? इस जीव के अनंत बार स्त्री, पुत्र-पुत्री का संयोग मिला था, वे कहाँ गये ? इस जीव को

पर्याय-पर्याय में अनेक भाई, कुटुंब परिवारादि मिले, वे सब अब कहाँ गये ? यह संसारी जीव पर्यायबुद्धिवाला है। इसे जैसी पर्याय मिलती है, वह उसी को अपना स्वरूप मानता है और उसमें तन्मय होकर परिणमने लगता है। वह यह नहीं जानता है कि जो पर्याया का स्वरूप है, वह विनाशीक है और मेरा स्वरूप नित्य, शाश्वत् और अविनाशी है, उसे ऐसा विचार ही नहीं होता। इसमें उस जीव का दोष नहीं है, यह तो मोह का महात्म्य है जो प्रत्यक्ष सच्ची वस्तु को झूठी दिखा देता है। जिसके मोह नष्ट हो गया है, ऐसा भेदविज्ञानी पुरुष इस पर्याय में अपनत्व कैसे माने और वह कैसे इसे सत्य माने ? वह दूसरे द्वारा चलित कैसे हो ? कदाचित् नहीं हो।

अब मेरे यथार्थ ज्ञानभाव हुआ है। मुझे स्व-पर का विवेक हो गया है। अब मुझे ठगने में कौन समर्थ है ? मैं अनादि काल से पर्याय-पर्याय में ठगाता चला आया हूँ, तत्परिणामस्वरूप मैंने भव-भव में जन्म-मरण के दु:ख सहे। इसलिये अब आप अच्छी तरह जान लें कि आपके और हमारे इतने दिनों का ही संयोग संबंध था, जो अब पूर्ण प्राय: हो गया। अब आपको आत्मकार्य करना उचित है, न कि मोह करना!!

इसलिये अब अपने शाश्वत् निज स्वरूप को सम्हालें। उसमें किसी तरह का खेद नहीं है। हमारे अपने ही घर में अमूल्य निधि है, उसको सम्हालने से जन्म-जन्म के दु:ख नष्ट हो जाते हैं। संसार में जन्म-मरण का जो दु:ख है, वह सब अपना स्वरूप जाने बिना है, इसलिये सबको ज्ञान ही की आराधना करनी चाहिये। ज्ञानस्वभाव अपना निज स्वरूप है, उसकी प्राप्ति से यह जीव महा सुखी होता है। आप परखनेवाले, जाननेवाला ज्ञायक पुरुष स्वभावत: शरीर से भिन्न है, ऐसे स्वभाव को छोड़कर और किस से प्रीति की जावे ? मेरी स्थिति इस सोलहवें स्वर्ग के कल्पवासी देव की तरह है जो तमाशा हेतु मध्यलोक में आवे और किसी गरीब आदमी के शरीर में प्रविष्ट हो जावे और उसकी सी क्रिया करने लगे। वह कभी तो लकड़ी का गठ्ठर सिर पर रखकर बाजार में बेचने जाता है और कभी मिट्टी का तसला सिर पर रख स्त्रियों से रोटी मांगने लगता है, कभी पुत्रादिक को खिलाने लगता है, कभी धान काटने जाता है, कभी राजादि बड़े अधिकारियों के पास जाकर याचना करता है कि महाराज ! मैं अजीविका के लिये बहुत ही दु:खी हूँ, मेरी प्रतिपालना करें, कभी दो पैसे मजदूरी के लेकर दाँती कमर में लगाकर काम करने के लिये जाता है, कभी रुपये, दो रुपये की वस्तु खोकर रोता है- हाय ! अब मैं क्या करूँगा ? मेरा धन चोर ले गये ! मैंने धीरे-धीरे धन इकट्ठा कियाऔर उसे भी चोर ले गये, अब मैं अपना समय कैसे बिताऊँगा ? कभी नगर में भगदड़ हो तो वह पुरुष एक लड़के को अपने

कांधे पर बैठाता है और एक लड़के की अँगुली पकड़ लेता है और स्त्री तथा पुत्री को अपने आगे कर, सूप, चालणी, मटकी, झाड़ू आदि सामान को एक टोकरी में भरकर अपने सिर पर रखकर, एक दो गूदड़ों की गठरी बांधकर उस टोकरी पर रख आधी रात के समय नगर से बाहर निकलता है ! उसे मार्ग में कोई राहगीर मिलता है, वह (राहगीर) उस पुरुष को पूछता है – हे भाई ! आप कहाँ जाते हैं। तब वह उत्तर देता है कि इस नगर में शत्रुओं की सेना आयी है, इसलिये मैं अपना धन लेकर भाग रहा हूँ और दूसरे नगर में जाकर अपना जीवनयापन करूँगा इत्यादि नाना प्रकार का चरित्र करता हुआ **वह कल्पवासी देव उस गरीब के शरीर में रहते हुए भी अपने सोलहवें स्वर्ग की विभूति को एक क्षणमात्र भी नहीं भूलता है, वह अपनी विभूति का अवलोकन करता हुआ सुखी हो रहा है। उसने गरीब पुरुष के वेष में जो नाना प्रकार की क्रियायें की हैं–वह उनमें थोड़ा सा भी अहंकार–ममकार नहीं करता।** वह सोलहवें स्वर्ग की देवांगना आदि विभूति और देवस्वरूप में ही अहंकार–ममकार करता है।

उस देव की तरह मैं सिद्ध समान आत्मा द्रव्य, मैं पर्याय में नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ भी अपनी मोक्ष लक्ष्मी को नहीं भूलता हूँ, तब मैं लोक में किसका भय करूँ ?''

तत्पश्चात् सम्यग्दृष्टि स्त्री से ममत्व छुड़ाता है—'अहो ! इस शरीर से ममत्व छोड़ ! मेरे और इस शरीर के इतने दिनों का ही संयोग संबंध था, सो अब पूर्ण हो गया। अब इस शरीर से तेरा कुछ भी स्वार्थ नहीं सधेगा, इसलिए तू अब मेरे से मोह छोड़ और बिना प्रयोजन खेद मत कर। यदि तेरा रखा हुआ यह शरीर रहे तो रख, मैं तो तुझे रोकता नहीं और यदि तेरा रखा यह शरीर न रहे तो मैं क्या करूँ ? यदि तू अच्छी तरह विचार करे तो तुझे ज्ञात होगा कि तू भी आत्मा है और मैं भी आत्मा हूँ। स्त्री–पुरुष का पर्याय तो पुद्गल का रूप है, अतः पौद्गलिक से कैसी प्रीति ? यह जड़ और आत्मा चैतन्य–ऊँट बैल का सा इन दोनों का संयोग कैसे बने ? तेरी पर्याय है, उसे भी चंचल ही जान। तू अपने हित का विचार क्यों नहीं करती ? हे स्त्री ! मैंने इतने दिन तक तुम्हारे साथ सहवास किया, उससे क्या सिद्धि हुई और इन भोगों से क्या सिद्धि होनी है। व्यर्थ ही भोगों से हम आत्मा को संसार चक्र में घुमाते हैं। भोग करते समय हम मोहवश होकर यह नहीं जानते कि मृत्यु आवेगी और तत्पश्चात् तीन लोक की संपदा भी मिथ्या हो जाती है। इसलिये तुझे हमारी पर्याय के लिये खेद खिन्न होना उचित नहीं है। यदि तू हमारी प्रिय स्त्री है तो हमें धर्म का उपदेश दे, यही तेरा वैयावृत्य करना है। अब हमारी देह नहीं रहेगी, आयु तुच्छ रह गई है, इसलिए तू मोह कर आत्मा को संसार में क्यों डुबोती है ! यह मनुष्य जन्म दुर्लभ है।

यदि तू मतलब ही के लिए हमारी साथिन है तो तू तेरी जाने। हम तुम्हारे डिगाने से डिगेंगे नहीं। हमने तुझे दया कर उपदेश दिया है। तू मानना चाहे तो मान, नहीं माने तो तेरा जैसा होनहार होगा, वैसा होगा। हमारा अब तुमसे कुछ भी मतलब नहीं है; इसलिये अब हमसे ममत्व मत कर! हे प्रिय! परिणामों को शांत रख, आकुल मत हो। यह आकुलता ही संसार का बीज है।'

(समाधिमरण करनेवाली स्त्री हो तो वह अपने पति से ममत्व छुड़ावे।)

इस प्रकार स्त्री को समझाकर सम्यग्दृष्टि उसे विदा करता है। तत्पश्चात् वह कुटुम्ब परिवार के अन्य व्यक्तियों को बुलाकर उन्हें संबोधित करता है।

'अहो कुटुम्बीगण! अब इस शरीर की आयु तुच्छ रही है। अब हमारा परलोक नजदीक है, इसलिये हम आपको कहते हैं कि आप हमसे किसी बात का राग न करें। आपके और हमारे चार दिन का संयोग था। कोई तल्लीनता तो थी नहीं। जैसे सराय में अलग-अलग स्थानों के राही दो रात ठहरें और फिर बिछुड़ते समय वे दु:खी हों! इसमें कौन सा सयानापन है। इसीप्रकार हमें बिछुड़ते समय दु:ख नहीं है किंतु आप सबसे हमारा क्षमा भाव है। आप सब आनंदमयी रहें। यदि आपकी आयु बाकी है तो आप धर्म सहित व राग रहित होकर रहो। अनुक्रम से आप सब की हमारी सी स्थिति होनी है। इस संसार का ऐसा चरित्र जानकर ऐसा बुधजन कौन है जो इससे प्रीति करे!'

कुटुम्ब परिवारवालों को इस प्रकार समझाकर सम्यग्दृष्टि उन्हें सीख देता है। तत्पश्चात् वह अपने पुत्रों को बुलाकर समझाता है—

अहो! पुत्रों! आप सब बुद्धिमान हैं, हम से किसी प्रकार का मोह नहीं करें। जिनेश्वरदेव के धर्म का भली प्रकार पालन करें। आपको धर्म ही सुखकारी होगा। कोई व्यक्ति माता-पिता को सुखकारी मानता है, यह मोह का ही महात्म्य है। वस्तुत: कोई किसी का कर्ता नहीं। कोई किसी का भोक्ता नहीं है, सब पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के कर्ता भोक्ता हैं। इसलिए अब हम आपको पुन: समझाते हैं कि यदि आप व्यवहारत: हमारी आज्ञा मानते हैं तो हम जैसे कहें, वैसे करें। 'सच्चे देव, धर्म, गुरु की दृढ़ प्रतीति करो, साधर्मियों से मित्रता करो, पराश्रय की श्रद्धा छोड़ो, दान, शील, तप, संयम से अनुराग करो, स्व-पर भेद विज्ञान का उपाय करो और संसारी पुरुषों के संसर्ग को छोड़ो। यह जीव संसार में सरागी जीवों की संगति से अनादि काल से ही दु:ख पाता है, इसलिए उनकी संगति अवश्य छोड़नी चाहिए। धर्मात्मा

पुरुषों की संगति इस लोक और परलोक दोनों में महासुखदाई है। इससे इस लोक में तो निराकुलतारूपी सुख की और यश की प्राप्ति होती है और परलोक में वह स्वर्गादिक का सुख पाकर मोक्ष में शिवरमणी का भर्त्ता होता है और वहाँ पूर्ण निराकुल, अतीन्द्रिय, अनुपम बाधारहित, शाश्वत अविनाशी सुख भोगता है। इसलिए हे पुत्रों! यदि तुम्हें हमारे वचनों की सत्यता प्रतीत हो तो हमारे वचन अंगीकार करो, इसमें तुम्हारा हित होता दिखे तो करो और यदि हमारे वचन झूठे लगें और इनसे तुम्हारा अहित होता दिखे तो हमारे वचन अंगीकार मत करो। हमारा तुमसे कोई प्रयोजन नहीं है किंतु तुम्हें दया बुद्धि से ही यह उपदेश दिया है। इसलिये इसे मानो तो ठीक और न मानो तुम अपनी जानो।'

तत्पश्चात् सम्यग्दृष्टि पुरुष अपनी आयु थोड़ी जानकर दान, पुण्य, जो कुछ उसे करना होता है, स्वयं करता है।

तदनंतर उसे जिन पुरुषों से परामर्श करना होता है, उनसे कर वह निःशल्य हो जाता है और सांसारिक कार्यों से संबंधित जो स्त्री पुरुष हैं, उनको विदा कर देता है और धार्मिक कार्यों से संबंधित पुरुषों को अपने पास बुलाता है और जब वह अपनी आयु का अंत अति निकट समझता है, तब यावज्जीवन सर्व प्रकार के परिग्रह और चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है और समस्त परिग्रह का भार पुत्रों को सोंपकर स्वयं विशेष रूप से निःशल्य-वीतरागी हो जाता है। अपनी आयु के अंत के संबंध में संदेह होने पर दो चार घड़ी, प्रहर, दिन आदि की मर्यादापूर्वक त्याग करता है।

तत्पश्चात् वह चारपाई से उतरकर जमीन पर सिंह की तरह निर्भय होकर बैठता है। जैसे शत्रुओं को जीतने के लिए सुभट उद्यमी होकर रणभूमि में प्रविष्ट होता है। इस स्थिति में सम्यग्दृष्टि के अंशमात्र आकुलता भी उत्पन्न नहीं होती।

उस शुद्धोपयोगी सम्यग्दृष्टि पुरुष के मोक्षलक्ष्मी का पाणिग्रहण करने की तीव्र इच्छा रहती है कि अभी मोक्ष में जाऊँ। उसके हृदय पर मोक्षलक्ष्मी का आकार अंकित रहता है और इसी कारण वह किंचित् भी राग परिणति नहीं होने देता है और इसप्रकार विचार करता है कि 'राग परिणति ने मेरे स्वभाव में थोड़ा सा भी प्रवेश किया तो मुझे वरण करने को उद्यत मोक्षलक्ष्मी लौट जायेगी, इसलिए मैं राग परिणति को दूर ही से छोड़ता हूँ।' वह ऐसा विचार करता हुआ अपना काल पूर्ण करता है, उसके परिणामों में निराकुल आनंद रस रहता है, वह

शांति रस से अत्यंत तृप्त रहता है। उसके आत्मीक सुख के अतिरिक्त किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं है। उसे केवल अतीन्द्रिय सुख की वांछा है और उसी को भोगना चाहता है। इसप्रकार वह स्वाधीन एवं सुखी हो रहा है।

उसे यद्यपि साधर्मियों का संयोग सुलभ है तो भी उसे उनका संयोग पराधीन होने से आकुलतादायी ही लगता है और वह यह जानता है कि निश्चयत: इनका संयोग भी सुख का कारण नहीं है। सुख का कारण एक मेरा शुद्धोपयोग ही है, जो मेरे पास ही है। अत: मेरा सुख मेरे आधीन है।

सम्यग्दृष्टि इसप्रकार आनंदमयी हुआ शांति परिणामों से युक्त समाधिमरण करता है।

जगत से न कुछ लेना है
न जगत को कुछ देना है

रे जीव! तू विचार कर कि बाहर की किस वस्तु के बिना तू नहीं रह सकता? तेरे स्वभाव में ऐसी क्या कमी है कि तुझे दूसरी वस्तु की जरूरत पड़े? क्या शरीर के न होने पर तेरे ज्ञान का परिणमन रुक जाता है? क्या पैसा न होने पर तेरा आत्मा जड़ हो जाता है। क्या इन्द्रियों अथवा बाह्य विषयों के न होने पर तेरा सुख स्वभाव नष्ट हो जाता है? नहीं। आत्मा स्वयं, सदैव चैतन्य परिणमन से भरपूर तथा सुखस्वभाव से परिपूर्ण है। अपने ज्ञान अथवा सुख के लिये अन्य किसी की जरूरत उसे नहीं होती। जिसप्रकार सिद्ध भगवंत देह के बिना, इन्द्रियों के बिना, लक्ष्मी वगैरह बाह्य विषयों के बिना स्वयमेव पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण सुखी होते हैं, उसीप्रकार तेरा आत्मा भी ऐसे ही ज्ञान और सुखस्वभाव से भरपूर है। अतएव हे जीव! स्वसन्मुख होकर अपनी आत्मा में ही तू संतुष्ट हो, और दूसरे की स्पृहा छोड़। जगत से मुझे कुछ लेना नहीं है क्योंकि मुझे जो चाहिये, वह मेरे में ही भरा पड़ा है; और जगत को मुझे कुछ देना नहीं है, क्योंकि जगत की कोई वस्तु मेरे पास (मेरे में) नहीं है कि जो मैं उसे दूँ—इसप्रकार निरपेक्ष होकर जगत का मोह छोड़कर, निज स्वभाव से परिपूर्ण अपनी आत्मा को तू देख। तुझे उत्तम आनंद का स्वानुभव होगा।

समयसार

'समयसार'—जैन शासन का सर्वोत्तम परमागम... जैसा सुंदर इसका नाम है, वैसा ही विषय है। यह समयसार शास्त्र पूज्य स्वामीजी को प्रथम सं० १९७८ में प्राप्त हुआ था... तब उसके निधान देखकर गुरुदेव को प्रसन्नता हुई और रचयिता के प्रति अत्यंत भक्ति जागृत हुई। और जब एक पुस्तक में कुन्दकुन्द प्रभु के विदेहक्षेत्र गमन संबंधी उल्लेख पढ़ा, तब उनके अंतर की गहराई से अव्यक्त संस्कारपूर्वक उसका सहर्ष स्वीकार आया... पश्चात् अंतर्मंथनपूर्वक उस शास्त्र का अधिकाधिक गहराई से अध्ययन करते गये, उस पर प्रवचन भी करने लगे... भाई श्री पंडित हिम्मतलाल जे. शाह ने समयसार का गुजराती अनुवाद किया, जिसकी अनेक आवृत्तियां छप गई हैं। हिन्दी में भी अनेक आवृत्तियां छप गई हैं। उसकी मूल गाथाओं के गुजराती-हरिगीत-छंद की स्वाध्याय सामूहिक रूप से होती रहती है। स्वामीजी द्वारा बारम्बार प्रवचन किये जाने से सोनगढ़ के घर-घर में समयसार की स्थापना है... समयसार की जिल्द में सोने के पतरे लगाये गये हैं, चाँदी के पतरों में उसकी मूल गाथाएँ कुरेदी गई हैं, और स्वाध्यायमंदिर में बहुमानपूर्वक उसकी स्थापना की गई है। समयसार पर चौदह बार प्रवचन हो चुके हैं... इन प्रवचनों को पाँच भागों में प्रकाशित किया जा चुका है, जिनमें से अंतिम तीन भागों की पांडुलिपि पूज्य बेन श्री बेन (चंपाबहिन-शांताबहिन) के सुहस्त से लिखी गई है। ऐसे समयसार ग्रंथ के प्रवचनों का कुछ नमूना यहाँ दिया जा रहा है। समयसार पढ़ते समय स्वामीजी का हृदय कैसा उल्लसित हो उठता है, वह इसमें देखा जा सकेगा।

जब-जब समयसार के प्रवचनों का प्रारम्भ होता है, तब-तब स्वामीजी पहली गाथा में मंगलाचरण करते हुए जिस अचिंत्य प्रमोद से सिद्धपने की स्थापना की बात करते हैं, उसे सुनकर श्रोताओं का आत्मा इसप्रकार उल्लसित हो जाता है मानों सिद्ध भगवान का साक्षात्कार हो गया हो... 'मैं सिद्ध, तू सिद्ध'—इसप्रकार आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके आचार्यदेव यह समयसार सुनाते हैं—इसका स्वीकार कर... और चला आ सिद्धपद में।

'नमः समयसार' इस मंगल में स्वामीजी कहते हैं कि—यह अप्रतिहत मंगलाचरण है... समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा, उसे हम नमस्कार करते हैं, अर्थात् समस्त संसार और सासांरिक वृत्ति के भाव से हम सकुचते हैं और चिदानंद-ध्रुव स्वभावी ऐसे समयसार में समा जाना चाहते हैं। बाह्य या अंतर संयोग की इच्छा स्वप्न में भी नहीं है... बाह्य भाव तो अनंत काल तक किये... अब हमारा परिणमन अंतरोन्मुख हो रहा है। अप्रतिहत भाव से अंतरस्वरूप में ढले सो ढले... अब हमारी शुद्ध परिणति को रोकने में जगत में कोई समर्थ नहीं है।

अहो! समयप्राभृत का प्रारंभ करते हुए सर्व सिद्धभगवंतों को आत्मा में उतारकर आचार्यदेव अपूर्व मंगलाचरण करते हैं। आत्मा में साधक स्वभाव का प्रारम्भ हो, वह अपूर्व मंगल है। आत्मा का परमध्येय ऐसा जो सिद्धपद, उसे साधने का जो भाव प्रगट हुआ अर्थात् सिद्धसन्मुख जाने का प्रारम्भ किया, वही मांगलिक है। अभी तक अनंत सिद्धभगवंत हुए, उन सबको भावस्तुति तथा द्रव्यस्तुति द्वारा अपने आत्मा में तथा पर के आत्मा में स्थापित करके यह समयसार प्रारंभ करता हूँ। भावस्तुति अर्थात् अंतर्मुख निर्विकल्प शांतरस का परिणमन और द्रव्यस्तुति अर्थात् सिद्धों के बहुमान का विकल्प तथा वाणी—इसप्रकार दोनों प्रकार से स्तुति करके, अपने तथा श्रोताजनों के आत्मा में अनंत सिद्ध भगवंतों की स्थापना करता हूँ। आत्मा कितना ?—तो कहते हैं कि अनंत सिद्धों को अपने में समा ले उतना। आत्मा में जहाँ सिद्धों को स्थापित किया, वहाँ अब उसमें राग नहीं रह सकता। जहाँ सिद्धों का आदर किया, वहाँ राग का आदर नहीं रहता; इसलिये अपने में सिद्ध की स्थापना करते ही राग के साथ की एकत्वबुद्धि टूट गई और साधकदशा का प्रारम्भ हुआ, वही अपूर्व मंगल है। पंचम काल का साधक अपने सिद्धपद का प्रस्थान रखता है कि हे सिद्ध भगवंत! मैं सिद्धपद को साधने चला हूँ, वहाँ प्रारंभ में ही अपने आत्मा में आपको स्थापित करता हूँ... और हे श्रोताजन! तुम्हारे आत्मा में भी सिद्धत्व की स्थापना करता हूँ... उल्लासपूर्वक हाँ कहना... अस्वीकार मत करना। हमारा श्रोता ऐसा ही होता है जो अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके सुने। अकेले राग में खड़ा रहकर नहीं सुनता, परंतु पहली ही बार में सिद्धपद की भनक ले आता है। 'मैं सिद्ध... तू भी सिद्ध!'—ऐसा सुनते ही आत्मा अंतर से स्वीकृति देता है।

यह समयसार भरतक्षेत्र का अलौकिक अमृतरस से भरपूर शास्त्र है। मंगलाचरण में ही सिद्धपद की स्थापना करके साधकपने का अपूर्व प्रारंभ कराते हैं।

अहा! चैतन्य के साथ संबंध जोड़ने से निर्मल साधकभाव की संतति प्रारम्भ होती है। सिद्धपद को पूर्ण ध्येय बनाकर साधक चला कि—हे सिद्धभगवंतों! अब में आपकी जाति में आता हूँ... संसार से—राग से पृथक होकर सिद्ध की—शुद्धात्मा की जाति में मिलता हूँ।

देखो तो यह कुन्दकुन्दस्वामी की रचना! अहा, भरतक्षेत्र में जन्म लेकर जिन्होंने शरीर सहित विदेहक्षेत्र जाकर तीर्थंकर भगवान के साक्षात् दर्शन किये, उनकी पात्रता और पुण्य की क्या बात!! वे कहते हैं कि—केवली और श्रुतकेवली भगवंतों द्वारा कहे हुए इस समयप्राभृत को मैं अपने और पर के मोह के नाश के लिये कहूँगा। सिद्ध समान आत्मा को ध्येयरूप रखकर यह प्रारंभ किया है, इसलिये उस ध्येय को चूकना नहीं। जो इस समयसार को समझेगा, उसके मोह का नाश हो जायेगा।—ऐसा आचार्यदेव की प्रतिज्ञा वचन है।

मोक्षार्थी जीव के अंतर में एक पुरुषार्थ का ही घोलन है कि किसप्रकार मैं अपने आत्मा को साधूँ?—कैसे अपने आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को प्रगट करूँ? आत्मा में सतत ऐसी धुन वर्तती होने से जहाँ संत-गुरु ने उसके श्रद्धा ज्ञानादि का उपाय बतलाया कि तुरंत उसके आत्मा में वह परिणमित हो जाता है। जिसप्रकार धन का अर्थी मनुष्य राजा को देखते ही प्रसन्न हो उठता है और उसे विश्वास हो जाता है कि अब मुझे धन की प्राप्ति होगी और दरिद्रता नष्ट हो जायेगी; उसीप्रकार आत्मा का अर्थी मुमुक्षु जीव आत्मप्राप्ति का उपाय दर्शानेवाले संतों को देखते ही परम प्रसन्न होता है... उसका आत्मा उल्लसित हो जाता है कि—अहा! मुझे अपने आत्मा की प्राप्ति करानेवाले संत मिले... अब मेरे संसार दुःखों का अन्त आयेगा और मोक्षसुख की प्राप्ति होगी। ऐसा उल्लास एवं विश्वास लाकर, फिर संत-धर्मात्मा जिसप्रकार चैतन्य की साधना का उपाय बतलायें, तदनुसार समझकर स्वयं सर्व उद्यम से चैतन्य को अवश्य साधता है।

जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, उसे ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करके उसका राग से भिन्न अनुभव करना ही उपाय है। जब तक जीव ऐसा अनुभव न करे और विकल्पों के वेदन में रुका रहे, तब तक वह आत्मा के चाहे जैसे विकल्प करता रहे, तथापि उससे क्या? उन विकल्पों से कोई सिद्धि नहीं है; इसलिये उन विकल्पों के जाल को लांघकर ज्ञानस्वभाव का अनुभव करो—ऐसा आचार्यदेव उपदेश करते हैं।

स्वभाव का अवलंबन लेकर आत्मा की शुद्धता का अनुभव करे, तब साधकपना और

कृतकृत्यता होती है। भाई, विकल्पों के अवलंबन में कहीं भी मोक्षमार्ग नहीं है; उससे पृथक् हो और ज्ञानस्वभाव में अपने उपयोग को लगा... अंतर्मुख होकर अतीन्द्रिय आनंदरस के घूंट पी। ऐसी धर्मात्मा की अनुभव दशा है और यही उस अनुभव का उपाय है।

चैतन्य का वास्तविक स्वरूप क्या है, उसे समझे बिना अज्ञान के कारण जीव ने चारों गति में अनंत दु:ख प्राप्त किये... उस दु:ख से जो भयभीत हुआ है, चैतन्यतत्त्व के सिवा जगत के अन्य किसी पदार्थ में जिसे सुख भासित नहीं होता, वह जीव चैतन्यस्वभाव का निर्णय करके ज्ञान को स्वसन्मुख करता है; बीच में आनेवाले विकल्पों को ज्ञान से भिन्न जानकर लांघ जाता है। इसप्रकार विकल्प के पृथक् होकर ज्ञानस्वभाव की निर्विकल्प प्रतीति करता है, वह 'समयसार' है, वही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। ऐसी प्रतीति करना, वह चार गति के अनंत दु:खों के छूटने का उपाय है।

जो सच्ची लगनवाला है, आत्मा का सच्चा प्रेमी है, वह जीव दुर्विकल्पों में तो नहीं अटकता और स्वानुभव से पहले बीच में आ पड़े भेद-विकल्पों में भी वह अटकना नहीं चाहता; उन्हें भी पार करके स्वानुभव में ही पहुँचना चाहता है। किसप्रकार स्वानुभव में पहुँचता है—वह बात आचार्यदेव ने १४४वीं गाथा में बड़ी अच्छी तरह अलौकिक ढंग से समझायी है। ज्ञानस्वभाव की और ढलते-ढलते अभी जब तक साक्षात् ज्ञान में नहीं आया, तब तक बीच में ऐसे विकल्पों का जाल आयेगा, उसे बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि उस विकल्प जाल में तू उलझ मत जाना, परंतु ज्ञान को उससे पृथक् करके उस विकल्प जाल को पार कर जाना... ज्ञान को अंतर में ले जाना... ऐसा करने से निर्विकल्प स्वानुभव का आनंद तेरे अनुभव में आयेगा।

अहा, दृष्टि बदलने से सब बदल जाता है। भाई, अपने उपयोग को बदलना है; उपयोग का लक्ष बाह्य में रुकने से संसार में परिभ्रमण हो रहा है; यदि उपयोग अंतरोन्मुख हो जाये तो संसार का अंत होकर मोक्ष की प्राप्ति हो। जो जीव ज्ञानस्वभाव में अंतर्मुख और विकल्प से भिन्न हुआ है, उसे यदि अमुक प्रकार के राग के विकल्प हों, तथापि उनके ग्रहण का उत्साह नहीं है, उनके अवलंबन की बुद्धि नहीं है; उत्साह तो चैतन्य की ओर ही लग गया है; बुद्धि में अर्थात् भावश्रुतज्ञान में एक चैतन्यस्वभाव का ही अवलंबन है।—**ऐसा सम्यक्त्वी धर्मात्मा नयपक्ष से अतिक्रांत हुआ शुद्ध आत्मा है, वही 'समयसार' है।**

अहा! निर्विकल्प अनुभव के समय सम्यक्त्वी धर्मात्मा कैसे होते हैं, उस बात की तुलना भगवान केवलज्ञानी के साथ करके आचार्यदेव ने वह अलौकिक ढंग से समझायी है। जिन-जिन जीवों को सम्यग्दर्शन हो, उनकी ऐसी दशा होती है।

हे भव्य! कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण और संबंध—इन सातों विभक्तियों के वर्णन द्वारा हमने तेरे आत्मा को पर से अत्यंत विभक्त बतलाया; इसलिए अब अपने आत्मा को सबसे विभक्त तथा अपनी ज्ञानादि अनंत शक्तियों के साथ एकमेक जानकर तू प्रसन्न हो... स्वभाव का ही स्वामी होकर पर के साथ संबंध के मोह को छोड़।

* स्वभाव का कर्ता होकर पर के साथ की कर्ताबुद्धि छोड़।
* स्वभाव के ही कर्मरूप होकर अन्य कर्म की बुद्धि छोड़।
* स्वभाव को ही साधन बनाकर अन्य साधन की आशा छोड़।
* स्वभाव को ही सम्प्रदान बनाकर निर्मल भाव को दे।
* स्वभाव को ही अपादान बनाकर उसमें से निर्मलता ले।
* स्वभाव को ही अधिकारण बनाकर पर का आश्रय छोड़।
* स्वभाव का ही स्वामी होकर उसके साथ एकता का संबंध कर और पर के साथ का संबंध छोड़।

—इसप्रकार समस्त पर से विभक्त और निजस्वभाव से संयुक्त ऐसे अपने आतमराम को जानकर उसके अनुभव से तू आनंदित हो... प्रसन्न हो!

वन में वास करनेवाले तथा आत्मा के आनंद के स्वाद में झूलते हुए वीतरागी दिगंबर संत अपना स्वानुभव प्रगट करते हैं कि—अहो! चैतन्य की सन्मुखता से अनुभव में आनेवाला यह अतीन्द्रिय सुख किसी विकल्प में नहीं था; किन्हीं बाह्य पदार्थों में इस सुख की गंध भी नहीं थी; अनंत काल के शुभाशुभ विकल्पों में कभी ऐसे सुख का अनुभव नहीं हुआ था। चैतन्य का जिसे लक्ष भी नहीं है, उसे तो सुख क्या और दु:ख क्या—उसकी भी खबर नहीं है; तो फिर दु:ख दूर करने का और सुख प्राप्त करने का सच्चा उपाय तो उसके कहाँ से होगा?

अरे जीव! ऐसा अवतार पाकर यदि तुझे भवभ्रमण के दु:ख से छूटने की कला न आयी तो तूने यह अवतार पाकर क्या किया? सुख का उपाय अर्थात् भेदाान की कला जाने बिना अन्य जो कुछ करे, वह सब अरण्य-रोदन की भाँति वृथा है। जो भेदज्ञान करे, उसे अंतर से भव-अंत

की भनक और सिद्धपद का संदेश आ जाता है कि—अब भव का नाश करके सिद्धपद अल्पकाल में ही प्राप्त करेंगे।

[—यहाँ तो समयसार-प्रवचनों का थोड़ा-सा प्रसाद दिया गया है; समयसार की महिमा का पूरा ख्याल तो तभी आ सकता है, जब पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों में बहते हुए अध्यात्म-रस को झेलकर साक्षात् पान किया जाये, तब ही वास्तव में समयसार की महिमा का सच्चा ख्याल आये। सचमुच में समयसार स्वामीजी का साथी है। एक बार उन्होंने प्रवचन में कहा था कि—इस समयसार में अत्यंत गंभीर-गहरे भाव भरे हैं... जीवन के अंतिम श्वास तक इसकी स्वाध्याय और मनन करने जैसा है।]

ग्रंथाधिराज समयार की जय हो!

कोई नहीं अपना जग में

अरे मन कर ले आतम ध्यान॥टेक॥
कोई नहीं अपना इस जग में,
क्यों होता हैरान... अरे मन॥१॥
जासे पावे सुख अनूपम,
होवे गुण अमलान... अरे मन॥२॥
निज में निज को देख देख मन,
होवे केवल ज्ञान... अरे मन॥३॥
अपना लोक आपमें राजत,
अविनाशी सुख दान... अरे मन॥४॥
सुखसागर नित बहे आपमे,
कर मज्जन रजहान... अरे मन॥५॥

सम्यग्दृष्टि की आत्म साधना

(परमात्म-प्रकाश प्रवचन से)

हे जीव! यह मनुष्यभव एवं आत्मा के साधने का ऐसा अवसर फिर मिलना बहुत दुर्लभ है। इसलिये शुद्धात्मा को आदरणीय समझकर उसको ही साधने में सर्वप्रकार से तत्पर हो। सम्यग्दृष्टि जहाँ हो, वहीं स्वद्रव्य में ही रत है। मुक्ति के लिये मुमुक्षु जीव को स्वद्रव्यरूप चैतन्य रत्न ही निरंतर चिंतन करने योग्य है। चैतन्य चिंतामणि के चिंतवन से ही सम्यक्त्व से लेकर सिद्धपद पर्यंत इष्टपद की प्राप्ति होती है।

जिसने अतीन्द्रिय आनंद के साथ तन्मयवाले आत्मस्वभाव को उपादेय किया है, वह सम्यग्दृष्टि है, वह अपने से ही अपने को जानता है। आत्मा, आत्मा द्वारा ही जाना जाता है। वह अन्य किसी द्वारा नहीं जाना जाता। जिसने अंतर्मुख होकर शुद्धात्मा को उपादेय किया, वह जीव नियम से निकट भव्य है। भाई! तू पहले निर्णय कर कि मेरे सुख के लिये मेरा शुद्धात्मा ही उपादेय है। रागादि परभाव मेरे उपादेय नहीं हैं। ऐसी श्रद्धा एवं मति अच्छी तरह कर, तब तुझे राग रहित वीतरागी संवेदन प्रकटे किंतु जिसके श्रद्धा और ज्ञान ही समीचीन नहीं है—राग को उपादेय मानते हैं—उसकी तो श्रद्धा ही विपरीत है, उसके राग रहित वीतरागी संवेदन नहीं होता। जो राग को उपादेय मानता है, वह तो राग के ही वेदन में अटक रहा है। सम्यग्दृष्टि तो स्वद्रव्य में बुद्धि लगाकर शुद्धात्मा को साधता है।

भाई! राग को उपादेय करने एवं चिदानंदस्वभाव को भूलने से तू अकेला ही चारों गतियों में परिभ्रमण करता हुआ दुःख भोग रहा है। अरे! इस दुःख की वेदना! यह अशांति! इसमें से तुझे बाहर निकलना हो और आत्मा की शांति चाहिए तो संत तुझे एक मंत्र देते हैं कि तेरा आत्मा शुद्ध परमात्मा है, उसे उपादेय मानकर उसका ही अभ्यास कर। इस जगत में कुछ भी शरण हो और कुछ भी सुख होवे तो वह शुद्धात्मा ही है; अन्य कुछ भी शरण नहीं है, न सुख है और इसलिये अपने शुद्धात्मा को देहादि से अत्यंत भिन्न देख, उसका आश्रय कर, उसकी शरण ले, उसको उपादेय कर और उसमें ज्ञान को जोड़; यह अतीन्द्रिय सुख है। यही सम्यग्दृष्टि की आत्म-साधना है।

स्वद्रव्य में जो रत है, वही सम्यग्दृष्टि है और वही स्वद्रव्य में परिणमता हुआ आठ कर्मों

को नष्ट करता है। सम्यग्दर्शन बिना स्वद्रव्य में प्रीति नहीं हो और स्वद्रव्य में लीनता बिना मुनिदशा नहीं हो और मुनिदशा बिना मुक्ति नहीं हो। स्वद्रव्य में प्रीति द्वारा सम्यग्दर्शन होते ही अनेक कर्म छूट गये, फिर उसी भाव में आगे बढ़ते-बढ़ते चारित्रदशा प्रकट होकर सब कर्म छूट जाते हैं और मुक्ति प्रकट होती है। यह सम्यग्दृष्टि की आत्म-साधना की पद्धति है। मुमुक्षु जीव को मुक्ति के लिये स्वद्रव्यरूप चैतन्य रत्न ही निरंतर चिंतन करनेयोग्य है। चैतन्य चिंतामणि के चिंतवन से ही सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद पर्यंत इष्ट पद की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दृष्टि स्वद्रव्य में रत है, वह तो कर्मों से छूटता है; जो देहादि परद्रव्यों में रत है, वह मिथ्यादृष्टि है, वह अनेक प्रकार के कर्मों को बाँधकर संसार में भ्रमण करता है। 'मैं शुद्ध चैतन्य भाव हूँ' ऐसे स्वद्रव्य को उपादेय कर जो उसका अनुभव नहीं करता और केवल रागादि का ही अनुभव करता है, परद्रव्य को अपना मानता है, वह जीव परद्रव्य में रत है। जो स्व और पर की भिन्नता को नहीं जानता और परद्रव्य का स्वामित्व माने, उसका पर से प्रेम नहीं छूटता और वह स्व में रत नहीं होता।

जो जीव शुभराग को धर्म का कारण और मोक्ष का साधन माने, वह राग में ही रत है, वह वीतरागी आत्मस्वभाव को नहीं जानता, वह उसमें रत कैसे हो, उसे तो उसकी रुचि ही नहीं है, अनुभूति भी नहीं है। जो परमात्मस्वभाव से विमुख होकर उससे विपरीत इस शरीर की जाति, कुल, रूप आदि के घमंड में लीन हैं, वह मिथ्यादृष्टि है। 'मेरी जाति उत्तम है, मेरा रूप उत्तम है' इसप्रकार जो देह की जाति का घमंड करता है और उसी में लीन रहता है, वह देहबुद्धि बहिरात्मा है। अरे भाई! तेरी जाति तो चैतन्य है, देह की जाति तेरी नहीं है। तेरा कुल तो सिद्धों और तीर्थंकरों का कुल है; तेरा रूप शुद्ध चेतनारूप है। देह का रूप तेरा कुछ भी नहीं है। 'अहा! चैतन्यरूप जगत में सर्वोत्कृष्ट है' इसप्रकार सम्यग्दृष्टि तो अपने चैतन्यरूप को ही उत्तम जानता है और देहरूप को अपने से भिन्न समझता है। 'चेतनरूप अनूप अमूरत... सिद्ध समान सदा पद मेरो' जो आत्मा का इसप्रकार अनुभव करता है, उसे जड़ के पुतले का अभिमान कैसे हो? इसप्रकार चैतन्य विद्या ही जगत में सर्वोत्कृष्ट है, इसप्रकार चैतन्य विद्या के मुकाबले अन्य किसी विद्या की महत्ता धर्मी को नहीं भासती। अज्ञानी को बाहरी कुछ जानकारी हो तो वह समझता है कि मैं बहुत बड़ा ज्ञानी हूँ... किंतु अरे मूढ़! धर्मात्मा ने चैतन्य विद्या से आत्मा को जाना है, उस चैतन्य विद्या की महत्ता के पास तेरी हजारों विद्या की भी कोई गिनती नहीं है; इसलिये इसका कैसा अभिमान?

जो धर्मात्मा है, जिसे धर्म से वास्तविक प्रेम है, वह लोक व्यवहार में धर्म विरुद्ध का आदर नहीं करता, धर्म से विरुद्ध कुदेवादि और उनके पोषक व्यक्तियों का भी आदर नहीं करता है। वह धर्म विरुद्ध स्थानों में अपने पुत्र-पुत्रियों को भी नहीं भेजता; वह लोकमूढ़ता को नहीं सेता। लोक मूढ़ता के विविध रूप इसप्रकार हैं—अमुक नदी में नहाने से पुण्य होगा, पीपलादि वृक्षों को पूज्य बताना आदि। धर्मी जीव को ऐसी लोकमूढ़ता नहीं होती। सम्यग्दृष्टि सर्वज्ञ, वीतरागी, निर्ग्रंथ मुनि, उनके कहे हुए वचनरूप शास्त्र का स्वरूप वास्तविकरूप से जानता है। देव-गुरु-शास्त्र तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, धर्मी जीव को उनमें मूढ़ता नहीं होती। सर्वज्ञ के स्वरूप में जिसे संदेह न हो और सर्वज्ञस्वरूप का परम आदर हो, ऐसी मुनिदशा का भी परम आदर हो, इसमें धर्मात्मा जीव थोड़ी सी भी ढील नहीं करता। जो कुदेवादि को नहीं छोड़ता। उसके लिये शास्त्रों में कहा है कि इस लोक में लोग सर्प को देखकर भयभीत होकर भागते हैं किंतु जिनका सेवन सर्प से भी अधिक अहितकारी है, ऐसे कुगुरु का सेवन जीव छोड़ता नहीं है। सर्प का विषय तो एक बार मारता है किंतु कुगुरु के सेवन में जो मिथ्याभाव है, उससे तो संसार में अनंत बार मरण होता है; इसलिये जिसे धर्म का वास्तविक प्रेम हो, वह कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का सेवन छोड़ता है।

जीव स्वद्रव्य को भूलकर, अज्ञान से परद्रव्य में ही एकत्वबुद्धि होकर पंच परावर्तनरूप संसार में भटक रहा है। चार गतियों में ऐसा कोई शरीर नहीं है, जो इसने धारण न किया हो; ऐसा कोई क्षेत्र लोक में नहीं है, जहाँ यह पैदा न हुआ हो। उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी का ऐसा कोई समय नहीं है, जिसमें इसने जन्म-मरण नहीं किया हो; मिथ्यादृष्टि का ऐसा कोई भव नहीं है, जो इसने धारण नहीं किया हो, स्वर्ग में असंख्यात वर्षों की आयु भी भोगी और निगोद में एक श्वास में १८ बार जनम-मरण भी किया। इसप्रकार इस जीव के लिये एक भी भव बाकी नहीं है। मिथ्यादृष्टि के ऐसे कोई भाव शेष नहीं रहा जो इस जीव ने नहीं किया। यह जीव उत्कृष्ट पाप भाव और मिथ्यादृष्टि के योग्य उत्कृष्ट पुण्यभाव भी कर चुका है किंतु चैतन्य की शुद्धता का भाव प्रकट नहीं हुआ। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म सब परद्रव्य हैं। जो परद्रव्य में रत है, वह उससे भिन्न स्वद्रव्य को नहीं जानता। यदि वह जीव साधु का व्रत धारण करे तो भी मिथ्यादृष्टि ही है और वह मिथ्यात्व को लिये हुए मिथ्यात्वरूप परिणमता हुआ दुखदायी आठ कर्मों को बाँधता है। जो नर-नारकादि अशुद्ध

पर्यायों में लीन है, वह पर्यायमूढ़-परसमय मिथ्यादृष्टि है और जो उपयोग लक्षणरूप निज भाव में स्थित है, वह स्व समय-सम्यग्दृष्टि है—ऐसा समयसार, प्रवचनसार में कहा है। स्वसमय में स्थिरतारूप जो सम्यग्दर्शनादि है, वह ही उपादेय है। इनसे पराङ्मुख-परसमय हेय है, ऐसा जानो। जितना स्वभावभाव है, उतना ही स्वसमयपना है और जितना परभाव है, वह परसमयपना है। सम्यग्दृष्टि के चौथे गुणस्थान से ही स्वसमयपना प्रारंभ हो गया है और रागादि परभाव हैं, उनको परसमय जानकर वह उनमें लीन नहीं होता। अज्ञानी तो रागादिरूप व्यवहारक्रिया को ही जानता है और उसे स्वसमयवत् मानता है, उसमें लीन होकर रहता है, उसे शुद्ध परिणतिरूप आत्म व्यवहार की खबर नहीं है, वह परिणति द्वारा शुद्धात्मा की भेंट नहीं करता किंतु परद्रव्य से ही भेंट करता है। 'मैं मनुष्य ही हूँ' यह मानकर शरीर के साथ एकत्वबुद्धि से ही वह रहता है। वह मनुष्य व्यवहार को ही अपना व्यवहार जानता है किंतु शुद्ध चेतनारूप आत्म व्यवहार को नहीं पहचानता है।

हे जीव! स्वसमय और परसमय को पहचान, यह मनुष्य भव और आत्मसाधना का ऐसा अवसर बार-बार मिलना बहुत दुर्लभ है। सम्यग्दृष्टि जहाँ-जहाँ हो, वह वहाँ-वहाँ स्वद्रव्य में ही रत है अर्थात् सर्वत्र आत्मभाव में ही रहता है। स्वर्ग या नरक में स्थित सम्यग्दृष्टि भी देव या नारकी होकर नहीं रहता किंतु मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा मानकर वह वहाँ रहता है। मिथ्यादृष्टि जहाँ हो वहाँ परद्रव्य को ही अपना मानकर परसमयरूप होकर रहता है। मिथ्यादृष्टि को बहिरात्मा या अनात्मा या परसमय कह सकते हो और सम्यग्दृष्टि को अंतरात्मा, या स्वसमयस्थित कह सकते हो। अहा! सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में कितना अंतर? जहाँ भेदज्ञान हुआ और दृष्टि पलटी, वहाँ सब कुछ पलट गया। अनादि से विभाव होते हुए जहाँ आत्मा के स्वभाव का सम्यक् भान किया, वहाँ वे विभाव क्षणमात्र में छूट जाते हैं। विभाव को दूर करने का एक ही उपाय है—आत्मा का सम्यक्भान। श्रीमद् राजचंद्र कहते हैं कि—

कोटि वर्षनु स्वप्न पण जागृत थतां समाय।
तेम विभाव अनादिनो ज्ञान थतां दूर थाय॥

(करोड़ों वर्ष का स्वप्न जगने से समाप्त हो जाता है, वैसे ही अनादिकाल की विभाव परिणति ज्ञान होते ही दूर हो जाती है।)

सम्यग्ज्ञान होने के बाद जो थोड़ा अल्प रागादि रहता है, उसमें धर्मी को लीनता नहीं है।

उसने रागादि से भिन्न निजस्वरूप को जान लिया है, इसलिये स्वरूप की साधना को उग्र कर वह राग को नष्ट करता जाता है। अज्ञानी तो राग और स्वरूप की भिन्नता ही नहीं जानता। उसे यह भी पता नहीं है कि किसको साधना है और किसको छोड़ना है। मेरे साधने योग्य आत्मस्वरूप क्या है और इससे बाह्य त्याज्य परभाव क्या है, इसका निर्णय किये बिना जीव परभाव को छोड़ नहीं सकता और स्वभाव को साध नहीं सकता। भाई! तेरा आत्मा अभेद रत्नत्रयरूप परिणमनशील स्वभावरूप है, वह ही तुझे उपादेय और आदरणीय है। कर्मबंध के कारणरूप जो मिथ्यात्वादि परभाव हैं, वे आदरणीय नहीं, अपितु हेय हैं। इसलिये शुद्धात्मा को आदरणीय समझकर उसके साधने में सब प्रकार से तत्पर हो। शुद्धात्मारूप स्वद्रव्य में बुद्धि लगाकर उसमें रत होना ही सम्यक्त्वी की आत्म साधना है।

पंचम गति के पाँच चरण

१. ज्ञानी से सच्चे मार्ग का श्रवण करें।

२. आत्महित साधने की जिज्ञासा जागृत करें।

३. आत्महित के मार्ग का बुद्धि द्वारा निर्णय करे।

४. आत्महित साधने की अंतरंग से शुद्ध लगन लगावे।

५. ऐसे व्यक्ति को अंतर-प्रयत्न द्वारा अल्प काल में स्वानुभव हो और वह उसके द्वारा सिद्ध पद पावे।

सम्मेदशिखर की यात्रा करके उतर रहे थे तब.....

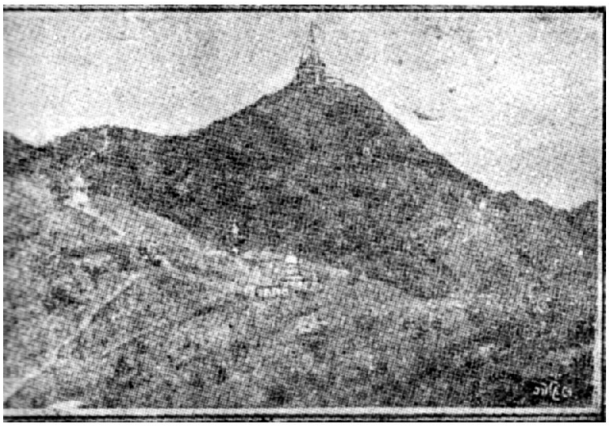

श्री सम्मेदशिखर महानतीर्थ की यात्रा... जिसका मधुर स्मरण करते ही हृदय आनन्द और भक्ति से उल्लसित हो उठता है... 'मंगल तीर्थ यात्रा' नामक गुजराती पुस्तक का एक प्रकरण यहाँ 'आत्मधर्म' के पाठकों के लिये दिया जा रहा है।

अहा! मानों १२ घंटे सिद्ध भगवान के देश में रह आये हों!!

वहाँ सम्मेदशिखर की अंतिम पारस टोंक पर यात्रा संबंधी चर्चा चली और स्वामीजी ने तीर्थ की महिमा का वर्णन किया। स्वामीजी के श्रीमुख से शिखरजी की परम महिमा और सिद्धपद की ऊँची-ऊँची भावनाएँ सुनकर यात्रियों के हृदय आनंद से डोल उठे थे। आनंदकारी यात्रा की पूर्णता की उल्लास तरंगें चारों ओर फैल गयी थीं। अहा, मानों गुरुदेव के साथ सिद्ध भगवान से भेंट कर आयें हों... और बस, उस सिद्धपद की आराधनामय ही अपना जीवन बन जाये—ऐसी ऊर्मियों का वेदन अंतर में हो रहा था... उस यात्रा की क्या बात कहें? कुछ आनंदमयी घटनाएँ ऐसी होती हैं जिन्हें वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता। (बाहुबलि भगवान के दर्शन करते हुए भी पूज्य स्वामीजी को ऐसी ही अनुभूति हुई थी... उस भव्य जिनबिम्ब के दर्शनों से जो ऊर्मियाँ जागृत होती थीं, उन्हें वचन द्वारा नहीं कहा जा सकता था) ऐसी ही एक यह घटना जीवन की धन्य प्रसंगमय महत्वपूर्ण घटना है... हजारों यात्री भाई-बहिन स्वामीजी के साथ हुई अपूर्व यात्रा के आनंद का अनुभव करके जीवन को सफल मान रहे थे।

रात्रि के दो बजे से पहाड़ पर चढ़ना प्रारंभ किया और पच्चीसों टोंकों की यात्रा अति आनंदोल्लास सहित पूर्ण की है; परंतु गुरुदेव के साथ यात्रा करते हुए यात्रियों को तीर्थभक्ति का ऐसा रंग लगा है कि नीचे उतरना अच्छा नहीं लगता। जिसप्रकार सच्चे आत्मार्थी को चैतन्य का ऐसा रंग चढ़ता है कि परभाव में कहीं भी उसे अच्छा नहीं लगता, उसीप्रकार यात्रियों को तीर्थधाम छोड़कर अन्यत्र कहीं जाना अच्छा नहीं लगता। अहा, ऐसा लगता है कि तीर्थधाम में ही रहें और साधक भाव के रंग से आत्मा को रंग दें। अनंत साधकों ने जहाँ निजपद की साधना की, ऐसी इस साधना भूमि में आये हैं तो यही निजपद को साध लें!—ऐसी अकथनीय गंभीर ऊर्मियाँ जागृत हो रही थीं।

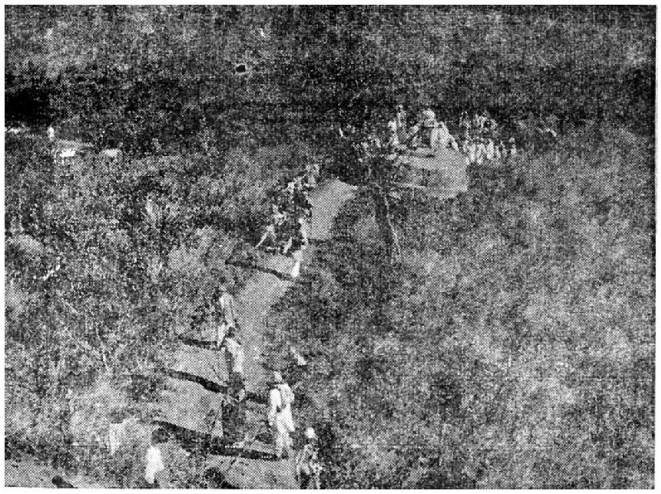

श्री सम्मेदशिखर
पर चढ़ते हुए
यात्रीगणों का
एक दृश्य

शाश्वत् सिद्धि धाम सम्मेदशिखर यात्रा की भावना उल्लासपूर्वक पूर्ण करके स्वामीजी ने पर्वत से नीचे उतरना प्रारम्भ किया। यात्रा के यह पवित्र संस्मरण जीवन भर भुलाये नहीं जा सकते... यह सदा मुक्तिपथ की पुनीत प्रेरणा देते रहेंगे—ऐसी भावना सभी यात्रियों में दिखायी देती थी। अहो! सिद्ध भगवंतों आज हमने बारह घंटे तक आपके पवित्र धाम में निवास किया... आपकी पवित्र सिद्ध भूमि के स्पर्श से हमारा आत्मा पावन हुआ... हमें आपके पवित्र मार्ग की प्राप्ति हुई... और जगत की रुचि छूट गई! अनंत तीर्थंकर भगवंतों की तथा संतों की पवित्र चरणधूलि को पुनः-पुनः मस्तक पर चढ़ाकर तीर्थराज का बहुमान किया... इतना ही नहीं किंतु 'यह भी तीर्थ का अंश है और इसे जब देखेंगे, तब तीर्थ का स्मरण होगा'—ऐसी कल्पना करके वहाँ की चरणरज को बहुमानपूर्वक साथ ले लिया।

स्वामीजी के साथ इस सिद्धिधाम की यात्रा ऐसे उल्लासपूर्वक हुई मानों अदृश्य ऐसे सिद्ध भगवंतों के दर्शन किये हों... सिद्धिधाम में विचरते हुए मुमुक्षुओं के हृदय में पग-पग पर सिद्ध स्वरूप का साक्षात् चित्र उपस्थित हो जाता था... मानों उन सिद्धों की सभा में बैठे हों—ऐसे अचिंत्यभाव साधकों के हृदय में उल्लसित हो रहे थे। पर्वत से उतरने के पूर्व एक बार फिर शिखरजी का अवलोकन किया और हृदय में उसकी अचिंत्य महिमा भर ली—धन्य है शाश्वत तीर्थधाम! तुम्हारा स्थान भरतक्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट है। अनंत चौबीसियों के अनंत तीर्थंकरों तथा अनंत मुनीश्वरों ने यहाँ से सिद्धपद प्राप्त किया है और उनकी साधना के प्रताप से यहाँ एक-एक कंकर पूनजीक बन गया है। चारों ओर छाया हुआ यह गौरवपुंज यहाँ सुवर्णभद्र टोंक पर से दृष्टिगोचर होता है, मानों सिद्धलोक अत्यंत निकट हो, ऐसा लगता है और अनंत सिद्ध तथा उनकी साधना स्मृति पट पर छा जाती है। सारे जीवन में विस्मृत न हो, ऐसी उच्च भावनायें हृदय में उत्कीर्ण हो जाती हैं। उतरने से पूर्व सबने पुनः पुनः उस पावन सिद्धि धाम को नमस्कार किया... अयोगी भगवंतों की इस भूमि को नमस्कार हो! सिद्ध भगवंतों की पावन धरती को हमारा बार-बार प्रणाम है! हे भगवान! तुम्हारे देश में आकर मैं दुनिया को भूल गया... दुनिया के दुःख दूर हो गये! अंत में णमोकार मंत्र का जाप करके, मंगल जयनाद करते-

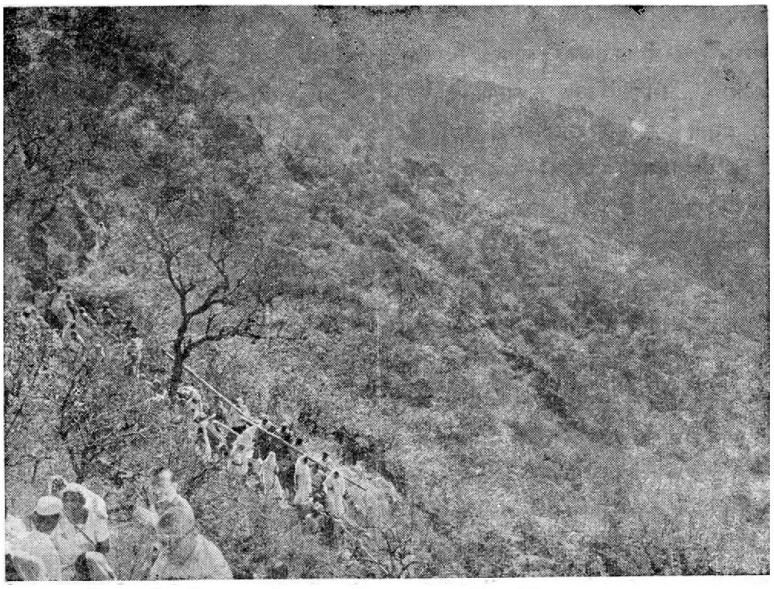

श्री सम्मेदशिखर से उतरते हुए यात्रीगणों का एक दृश्य

करते, घटनाद गुँजाते हुए तथा पुनः पुनः इस तीर्थ की यात्रा की भावना भाते-भाते भगवान के साथ समीप मुक्ति की प्रतिज्ञा करते-करते नीचे उतरना प्रारम्भ किया।

उतरते-उतरते यात्री आपस में आनंदभरी चर्चा करते हुए कहते थे कि—वाह! अद्भुत यात्रा हुई... हर टोंक पर नये-नये भाव उल्लसित होते थे... आज देखा कि धर्मात्मा को सिद्धप्रभु के प्रति कैसी परम अद्भुत भक्ति होती है, वह आज प्रत्यक्ष दृश्य देखने को मिला है। भूख-प्यास या थकावट का तो नाम ही नहीं था... समवसरण में भूख-प्यास या थकावट का अनुभव कैसे होता! ऐसी यात्रा महान भाग्य से ही होती है। जैसे तीर्थंकर के साथ उस काल जो गणधरादि मुनि तथा श्रावक विचरते होंगे, उन्हें कितना आनंद होता होगा! उसीप्रकार यहाँ भी यात्रियों को स्वामीजी के साथ तीर्थधाम में विचरते हुए आनंद होता था; मानों पूर्व के दृश्य ही वर्तमान में दृष्टि के समक्ष तैर रहे हों! परमोपकारी गुरुदेव भी प्रमोद सहित कहते थे कि—आज जीवन की एक अविस्मरणीय प्रसंग विशेष घटना हुई जिसकी स्मृति सदा बनी रहेगी। यात्रा के मंगल गान गाते-गाते सब नीचे उतर रहे थे और शिखरजी की शोभा निहारकर आँखों को तृप्त कर रहे थे....

सम्मेदशिखरजी का पर्वत अत्यंत विशाल और भव्य है... उसकी दिव्य प्राकृतिक शोभा देखते ही बनती है। रास्ते में इतनी घनी झाड़ियाँ आती हैं कि दो मिनट की दूरी होने पर भी आदमी एक-दूसरे को देख नहीं सकते। पगडंडियाँ तो ऐसी घनी झाड़ियों में होकर गुजरती है, मानो गुहरी गुफा में चले जा रहे हों! स्थान-स्थान पर केल आदि के वृक्ष खड़े हैं, तदुपरांत सैकड़ों प्रकार की औषधियों एवं रंग-बिरंगी पुष्पलताएँ चारों ओर छायी हुई हैं। मार्ग में कई ध्यान करनेयोग्य स्थान भी आते हैं जो आज ध्यानस्थ मुनिवरों के बिना खाली सूने-सूने लगते हैं। ऐसा लगता है कि कोई मुनिवर यहाँ विराजते हों... कोई मुनि भगवंत मिल जायें तो यहीं उनके चरणों में रह जायें और चैतन्यानुभूति को प्राप्त करें। ऐसी ऊर्मियों से पल भर तो पाँव शिखरजी पर थम जाते हैं। तीर्थभूमि की वे पवित्र झाड़ियाँ और पहाड़ियाँ देखते हुए ऐसा लगता है कि शिखरजी अपना ही तीर्थधाम है, वह कहीं परदेश नहीं है... यह तो अपने अनंत तीर्थंकरों का स्वदेश है... अपने धर्म पिता की साधना भूमि है... अनंत तीर्थंकर और मुनि यहाँ विचरे हैं और आत्मा के परमपद को प्राप्त किया है। वाह, धन्य है इस भूमि को! ऐसी भूमि में आराधक जीवों को तो आराधना की ऊर्मियाँ जागृत होती हैं और प्रमोद पूर्वक चैतन्य की चर्चा

करते हैं। मुनियों के धाम में आकर मुनि जैसे बनें, केवलज्ञान साधें और सिद्धरूप बनें—ऐसी उत्तम भावनाएँ जागृत होती हैं। यह तीर्थभूमि भी यात्रियों को ऐसी ही प्रेरणा दे रही हैं कि—हे यात्री! अब तो बस, जीवन में आत्मध्यान कर-करके आत्मा को साधना है... यही कर्तव्य है-यही आदर्श है-यही ध्येय है। यद्यपि ऐसी भावनासहित शीघ्रता से पर्वत उतर रहे थे, परंतु मुमुक्षुओं का मन पर्वत उतरने में नहीं था... वह तो ऐसी उत्तम भावनाओं में लगा था... और पर्वत से उतरने का कार्य तो पैर कर रहे थे। प्रत्येक यात्री का हृदय यात्रा के उल्लास से उछल रहा था। पर्वत पर चढ़ते समय गुरुदेव का साथ था और उतरते समय भी गुरुदेव साथ होने से यात्रियों को अनोखा आनंद आ रहा था। सफल यात्रा की प्रसन्नता सबके चेहरों पर छा रही थी तथा वचन द्वारा भी सब हर्ष एवं भक्ति व्यक्त करते थे।

अहा! यह यात्रा तो वीतरागभावना का एक महोत्सव था। यहाँ तीर्थ भक्ति के तोरण बँधे थे और संयमभाव के बाजे बज रहे थे। यह अविस्मरणीय उत्तम यात्रा जिनके प्रताप से हुई, उनके उपकार को भी यात्री भव-भव में नहीं भूलेंगे। उनकी हृदय-वाणी से सदा ऐसी झंकार उठती रहेगी कि—

हे गुरुदेव! आपका हमारे जीवन में महान उपकार है... आज इस महामंगल शाश्वत तीर्थधाम की यात्रा हुई, वह आत्महित का कारण है। हे भगवंतों! हे अनंत जिनेन्द्रों! आपके इस पवित्र मुक्तिधाम की यात्रा करने की हमारी भावना आज पूरी हुई... हमारा मनोरथ आज सफल हुआ।

आनंदोल्लासपूर्वक यात्रा करके उतरते समय स्वामीजी जब रंग-बिरंगी पुष्पाच्छादित झाड़ियों के बीच से गुजरते थे, तब ऐसा लगता था मानों पर्वत पर खड़े हुए वृक्ष पूज्य स्वामीजी का स्वागत कर रहे हों और पुनः-पुनः पधारने का आमंत्रण दे रहे हों। पर्वत के उन्नत शिखर और घनी वृक्षराजित के धीर गंभीर उपशांत दृश्य ऐसी प्रतीति कराते थे कि 'यहाँ भगवान विचरे हैं।' ढलते हुए सूरज का उपशांत वातावरण, चारों ओर पर्वतों के बीच वन की नीरव शांति... यह सब संत-मुनियों की ध्यानदशा का स्मरण कराते थे कि—अहा, हमारे धर्मपिता यहाँ आत्मध्यान करते थे। हे नाथ! हम तुम्हारे पुत्र, तुम्हारे ही चरण चिह्नों पर तुम्हारे पास आ रहे हैं। स्वामीजी के आनंदोल्लास का तो कोई पार नहीं था... इसप्रकार भगवंतों की पवित्र भूमि को देखते-देखते, मुनियों की ध्यानदशा का स्मरण करते-करते और आत्महित की

भावना भाते-भाते पर्वत से नीचे उतर रहे थे। लगभग तीन मील चलने पर श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के विश्रामस्थल आते हैं, जहाँ यात्रियों को जलपान भी दिया जाता है... पास में ही बहता हुआ एक झरना पर्वत की प्राकृतिक शोभा में वृद्धि करता है। मंगल-गीत गाते-गाते करीब दो बजे दोपहर में सब नीचे आ पहुँचे और हर्ष भरे जय-जयकारों से शिखरजी की तलहटी गूँज उठी... इसप्रकार रात्रि के दो बजे से प्रारंभ की हुई यात्रा दोपहर के दो बजे समाप्त हुई... आज बारह घंटे तक मानों सिद्ध भगवंतों के देश में रह आये।

ज्ञानी-महात्मा की पहिचान और सत्संग की दुर्लभता....

आत्मदशा को प्राप्त करके निर्द्वंद्वरूप से यथाप्रारब्ध विचरते हैं—ऐसे महात्माओं का योग जीव को दुर्लभ है।

वैसा योग बनने पर जीव के उस पुरुष की पहिचान नहीं होती और तथारूप पहिचान हुए बिना उन महात्मा के प्रति दृढ़ आश्रय नहीं होता।

जब तक दृढ़ आश्रय न हो, तब तक उपदेश परिणमित नहीं होता।

उपदेश परिणमित हुए बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना जन्मादि दुःखों की आत्यंकि निवृत्ति बनने योग्य नहीं है।

वैसे महात्मा पुरुषों का योग तो दुर्लभ है—उसमें संशय नहीं है; परंतु आत्मार्थी जीवों का योग बनना भी कठिन है। —श्रीमद् राजचंद्र (८१७)

पूर्णमालिका मंगल

उपजाति

तपोपध्याने रवि रूप थाय,
वो साधकर सोम रहे सुहाय;
महान वे मंगल पंक्ति पावे,
आवे पिछे वे बुध के प्रणामे ॥१॥

निर्ग्रन्थ ज्ञाता गुरु सिद्धि दाता,
या तो स्वयं शुक्र प्रपूर्ण ख्याता;
त्रियोग वहाँ केवल मंद पाये,
स्वरूप सिद्धे विचरी विरामे ॥२॥

[श्री राजचन्द्रजी ने अपनी १६ वर्ष की आयु में मोक्षमाला के १०८ पद लिखे थे, उनमें से यह अंतिम पाठ अंतमंगलरूप काव्य है और उसमें अध्यात्म शैली में सात वार बताये गये हैं।]

अर्थ—तपोध्याने—तप अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मुनित्व के द्वारा

१. रवि रूप थाय—निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक निजशुद्धात्मतत्त्व के उग्र अवलंबन के बल द्वारा स्वरूप विश्रांत, निस्तरंग चैतन्य में प्रतापवंत रहना, उससे शुभाशुभ इच्छा का स्वयं उत्पन्न नहीं होना, वह इच्छानिरोध तप है, वह सच्चा तप है। अतः धर्म-शुक्लध्यानमय तपरूप मुनित्व द्वारा यह जीव पूर्ण सूर्यवत् चैतन्यप्रताप-प्रकाशमय रविरूप होता है।

२. सोम—(चन्द्र को सोम कहते हैं) पूर्ण परमात्मतत्त्व को साधकर चंद्रसमान निज-अविनाशी शांतस्वरूप में सुशोभित, प्रतापवंत रहते हैं।

३. मंगल—पुण्य-पापरूपी मल रहित और पवित्रता सहित महान उत्तम मंगल की पंक्ति को प्राप्त होता है।

४. बुध—के प्रणामे=वो जीव बुधजन-ज्ञानियों के द्वारा वंदनीय होते हैं।

५. गुरु—गुरु नाम महान का है, जो निर्ग्रंथ हैं, स्व-पर के ज्ञाता हैं और वे ही सिद्धिदाता हैं।

६. शुक्र—(वीर्य-बल) वे स्वयं परिपूर्ण वीर्य प्रगट करके प्रसिद्ध होते हैं। यह १३वें गुणस्थानक की दशा है।

७. मंद—(=शनि) यहाँ १४ वाँ अयोगकेवली गुणस्थान लेना, यहाँ त्रियोग केवल मंद दशा को प्राप्त होता है (मंद शनि का अर्थ में है)।

उसके बाद जीव अल्प काल में सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं और सादि अनंत काल तक लोकाग्रस्थित निज अक्षय अनंत सुख में विश्रांति पाते हैं।

सम्यग्दर्शन के लिये आत्मार्थी का उल्लास और निर्विकल्प अनुभूति

सम्यग्दर्शन-सन्मुख हुए जिज्ञासु जीव को अपना कार्य करने का अत्यंत हर्ष होने के कारण अंतरंग प्रीति से उसका उद्यम करता है। अपना कार्य अर्थात् सम्यग्दर्शन; सम्यग्दर्शन करना ही उसके जीवन का ध्येय है—वही उसके जीवन का साध्य है; इसलिये सम्यग्दर्शन के लिये उल्लासपूर्वक निरंतर प्रयत्न करता है, उसमें प्रमाद नहीं करता। अपना आत्मकार्य साधने के लिये आत्मार्थी के परिणाम निरंतर उल्लासमान होते हैं। सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त अन्य कार्य अपना भासित नहीं होता। इसलिये उसमें रस नहीं है, निज कर्तव्य को एक क्षण भी अंतर से भूलता नहीं है। ऐसा जीव अल्पकाल में सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।

तत्त्वविचार करके भी जब स्वसन्मुख हो, तब उस निर्विकल्पदशा में ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। मात्र तत्त्वविचार ही कहीं सम्यग्दर्शन नहीं है। सम्यग्दर्शन कब हुआ कहलाता है? कि जब स्वरूपसन्मुख होकर निर्विकल्प अनुभूति हो—अतीन्द्रिय आनंद का वेदन हो, तभी यथार्थ सम्यग्दर्शन हुआ कहलाता है। वही यथार्थ प्रतीति है; इसके बिना यथार्थ प्रतीति नहीं कही जाती। तत्त्वविचार के पश्चात् उसकी गहराई में उतर कर—अंतर्मुख होकर स्वरूप की निर्विकल्प अनुभूति न करे, तब तक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करता। अंतर में चैतन्यस्वभाव की परम महिमा लाकर, उसे लक्षगत करके उसकी निर्विकल्प अनुभूति करना —प्रत्यक्ष स्वसंवेदन करना, सो सम्यग्दर्शन है। निर्विकल्प अनुभूतिपूर्वक ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् ज्ञानी को सविकल्पदशा में भी वह निरंतर बना रहता है। निरंतर सम्यक्त्व आराधना का प्रयत्न करना जिज्ञासु का कर्तव्य है।

वैराग्यमय जीवन

वैराग्यमय जीवन में रूक्षता नहीं होती, पवित्र रस होता है। जिस जीवन में रूक्षता लगे तो वह जीवन शुष्क है, कषाय से रंगा है, और वैराग्यमय जीवन में शुष्कता अथवा रूक्षता नहीं होती परंतु उसमें तो कषायरहित अवस्था की अनुपम शांति होती है। वह निष्कषाय स्वरूप की मस्ती से भरपूर जीवन आनंदमय है, पवित्र है; हाँ, उसमें कषाय का रंग नहीं है, इसी से अज्ञ जीवों को वह शुष्क-नीरस जैसा लगता है—परंतु नहीं, नहीं, वह जीवन शुष्क नहीं है—नीरस नहीं है। यह पवित्र जीवन आत्मानंद की अनेक क्रीड़ाओं से भरपूर है।

जिसे आत्मानंद की खबर नहीं है, वह वास्तविक वैराग्यमय जीवन में नहीं जी सकता...

वैराग्य अकेला मजा नहीं कर सकता, परंतु वैराग्य के साथ यदि ज्ञान होगा, तभी वैराग्य की सच्ची मस्ती-मजा आयेगा... ज्ञान और वैराग्य एक-दूसरे को प्रोत्साहन देनेवाले हैं। ज्ञान बिना वैराग्य वास्तव में वैराग्य नहीं है परंतु रुका हुआ कषाय है; परंतु ज्ञान नहीं होने के कारण उस कषाय को पहिचाना नहीं जा सकता और इसी कारण अज्ञान द्वारा कषाय में (द्वेष में) वैराग्य की मान्यता हो जाती है। इसको 'मोहगर्भित वैराग्य' भी कहा जाता है।

ज्ञान है, वह कषाय को बराबर पहिचान जाता है। अतएव जहाँ ज्ञान होगा, वहाँ कषाय छिप नहीं सकती, अल्प हो तो प्रकट होकर भाग जाती है—अतएव ज्ञान स्वयं वैराग्य की मस्ती को पहिचानता है... और वैराग्य है, वह ज्ञान को कहीं फँसने नहीं देता परंतु सभी से निस्पृह और 'स्व' की मौज में ज्ञान को स्थिर रखता है। ज्ञानसहित जीवन नियम से वैराग्यमय ही होता है; परंतु अज्ञानी जीव को वह जीवन नीरस लगे, यह भी संभव है क्योंकि उसमें ज्ञान को और वैराग्य की मस्ती को पहिचानने की शक्ति नहीं है... ज्ञान स्वयं वैराग्यस्वयप है। ज्ञान का सभी आनन्द-मस्ती वैराग्य से ही भरपूर है।

जिस जीवन में ज्ञानानंद में परमशांतरस का अनुभवन न हो और खेद तथा नीरसता लगे तो समझना कि वहाँ सत्यज्ञान वैराग्य नहीं है।

ज्ञान और वैराग्य के आनंद जीवन को हमेशा जागृतिमय रखते हैं—और कभी भी जीवन में किंकर्तव्य विमूढ़ता अथवा निराशा नहीं आने देते। ज्ञानी के जीवन का प्रत्येक प्रसंग

ज्ञान और वैराग्य से ही भरपूर होता है। ज्ञान है, वह सुख को प्राप्त कराता है—और वैराग्य है, वह दु:ख को दूर करता है। ज्ञान और वैराग्य अर्थात् सर्वज्ञता और वीतरागता के साधक.... (होते हैं)।

निरपेक्ष तत्त्व की श्रद्धा को किसी का अवलंबन नहीं है। निरपेक्ष तत्त्व की श्रद्धा 'ज्ञान के विकास की' अपेक्षा भी नहीं रखती और द्रव्य की ओर ढलते विकल्प की भी अपेक्षा वह श्रद्धा नहीं रखती। ज्ञान का विकास और विकल्प इन दोनों की उपेक्षा कर निरपेक्ष द्रव्य में एकाकार होनेवाली श्रद्धा ही सच्चा श्रद्धा है। जब तक किसी भी अपेक्षा की आवश्यकता होगी तब तक निरपेक्षतत्त्व की प्रतीति नहीं होती। निरपेक्षतत्त्व संपूर्ण स्वाधीन है—सभी की अपेक्षा से मुक्त (पार) है-इस तत्त्व की प्रतीति में अनंत पुरुषार्थ हैं। जगत् के समस्त पदार्थों की उपेक्षा कर एक स्वतत्त्व को निरपेक्षरूप से प्रतीति में लेना, यही सम्यग्दर्शन है।

जस्स दृढा जिणभत्ति तस्स भयं णत्थि संसारे॥

जिस पुरुष की जिनेन्द्र भगवान में दृढ़ भक्ति है, उसे संसार में भय नहीं है... वह भक्ति कैसी है ? संसारपरिभ्रमण के भयरूप संवेग से उत्पन्न हुई है, मिथ्यात्व आदि शल्य से रहित है, मेरुपर्वत के समान निष्कंप है; ऐसी जिनभक्ति जिसको हुई, उसे संसार का अभाव ही हो गया।

(भगवती आराधना, पृष्ठ ३०२)

मुश्किल और मार्ग

संसार में हजारों प्रकार की प्रतिकूलाएँ जब कभी एक साथ आ टूटें, कोई उपाय न सूझे- ऐसी दशा में मार्ग क्या ? एक ही मार्ग कि 'ज्ञानभावना'।

ज्ञानभावना क्षणमात्र में सभी मुश्किलों को दूर कर हित मार्ग सुझाती है, और कोई अलौकिक धैर्य तथा अचिंत्य शक्ति देती है।

मोक्षमार्ग कहाँ से प्राप्त हो ?

❀ मोक्ष का साधन कौन ?

— शुद्ध उपयोग।

❀ शुद्ध उपयोग का साधन कौन ?

—राग ?–नहीं, आत्मा का स्वभाव ही उसका साधन है।

❀ मोक्षमार्ग कहाँ से मिलेगा ?

—आत्मा के स्वभाव से मिलेगा।

❀ शरीरादि जड़ में से मोक्षमार्ग लेना चाहे तो मिल सकता है ?

—नहीं; उनमें से मोक्षमार्ग नहीं मिल सकता।

❀ शुभ विकल्पों में से मोक्षमार्ग लेना चाहे तो मिल सकता है ?

—नहीं; उसमें से मोक्षमार्ग नहीं मिल सकता।

❀ पूर्वपर्याय के अवलंबन से मोक्षमार्ग मिल सकता है ?

—नहीं; उसके अवलंबन से मोक्षमार्ग नहीं मिल सकता।

❀ तो मोक्षमार्ग कहाँ से मिलेगा ?

—स्वद्रव्योन्मुख होकर वहाँ से मोक्षमार्ग लेना चाहे तो मोक्षमार्ग अवश्य मिलता है। स्वद्रव्यसन्मुख होने पर आत्मा स्वयं ही मोक्षमार्गरूप परिणमित होकर मोक्षमार्ग देता है। स्वद्रव्यसन्मुख होना ही मोक्षमार्ग लेने की रीति है; अन्य कोई मोक्षमार्ग की रीति नहीं है।

('रत्नसंग्रह'—गुजराती से)

''ही''

(अनेकांत में 'ही' का स्थान)

'ही' कब अमृत... और कब जहर ?

जब वस्तु का कथन किसी एक नय की अपेक्षा से किया जाता है, तब उसमें 'ऐसा ही है ' ऐसा कहा जाता है। जैसे 'स्व अपेक्षा से आत्मा अस्तिरूप ही है' परंतु स्व अपेक्षा से आत्मा कथंचित् अस्तिरूप है – ऐसा नहीं कहा जाता। कोई कहते हैं कि स्याद्वाद में 'ही' नहीं होता – परंतु ऐसा नहीं है। स्याद्वाद में भी जब किसी एक विशेष अपेक्षा से कथन करना होता है, तब उसमें 'ही' लगता है। जैसे कि द्रव्य की अपेक्षा से जीव नित्य ही है और पर्याय की अपेक्षा से वह अनित्य ही है। जीव स्वभाव की अपेक्षा से अस्तिरूप ही है और पर्याय की अपेक्षा से नास्तिरूप ही है। इनमें 'ही' होने पर भी यह स्याद्वाद का कथन है, यह कोई एकांतवाद नहीं हो जाता।

जैसे जीव जीवरूप से है ही और अजीवरूप से नहीं ही है। और अजीव अजीवपना से है ही और जीवपने से नहीं ही है; इसीप्रकार अस्ति-नास्ति में 'ही' द्वारा उसका सच्चा निर्णय होता है। उसीप्रकार निश्चय-व्यवहार में भी है। जो निश्चय है, वह निश्चयरूप से ही अस्ति है, व्यवहाररूप से है ही नहीं, तथा जो व्यवहार है, वह व्यवहाररूप से ही अस्तिरूप है और निश्चयरूप से वह नास्तिरूप ही है, असत् ही है।

अब जो व्यवहार-स्वयं निश्चय से असत् ही है, वह व्यवहार निश्चय का कारण कैसे हो सकता है ? नहीं ही हो सकता। व्यवहार व्यवहारपने से भी कथंचित् सत् है और व्यवहार निश्चयपने से भी कथंचित् सत् है, ऐसा नहीं है। परंतु 'ही' वस्तुस्थिति का निश्चय कराता है कि निश्चय, निश्चयरूप से ही सत् है, और व्यवहार, व्यवहाररूप से ही सत् है। अतएव दोनों की एक दूसरे में मिलावट नहीं है—दोनों की एकता नहीं है। जैसे जीव और अजीव एक-दूसरे के अस्तिरूप नहीं है। इसी से दोनों का कार्य भी अलग-अलग ही है। इसी ढंग से उपादान – निमित्त में भी समझना चाहिये। उपादान, उपादानपने से अस्तिरूप ही है, वह निमित्तपने से नहीं ही है; निमित्त, निमित्तपने से अस्तिरूप ही है और उपादानपने से नहीं ही है, इसलिये दोनों की एकता नहीं है, दोनों अलग हैं, दोनों का कार्य भी अलग है। इसप्रकार 'ही' होने पर भी

उसमें एकांतवादरूप विष नहीं है परंतु स्याद्वादरूप अमृत द्वारा वह विष दूर हो गया है।

आत्मा एकांत नित्य ही है, और पर्यायदृष्टि से भी अनित्य नहीं है, ऐसा जो मानता है, उसमें स्याद्वादरूप अमृत से रहित 'ही' आता है, वह जहर है। परंतु आत्मा नित्य ही है, स्यात् अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से, ऐसा जो स्याद्वाद के अनुसार कहने में आये तो उसमें 'ही' होने पर भी एकांतरूप जहर नहीं है, अपितु वह तो यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्णय करानेवाला अमृत है। इस रूप से स्याद्वाद के अनुसार वस्तुस्थिति के यथार्थ निर्णायक जीव को, उसका मिथ्यात्वरूप विष दूर होकर सम्यग्ज्ञानरूप अमृत प्राप्त होता है।

आत्म-धर्म

[रचियता - श्री लक्ष्मीचंद्र जैन 'सरोज', एम.ए., सा.र. जावरा (म.प्र.)]

उन्हें आत्मा सच शाश्वत धन, नश्वर समझे हैं जो निज तन।
त्याग किये जो निज विकाश में, बढ़ें समझ जो दुख भी सुख है॥
अजर अमर औ अनंत आत्मा, सजग सबल औ महंत आत्मा।
यह अदृश्य पर तुन में निश्चित, इस पर निर्भर जीवन-रुख है॥
तुल्य आत्मा पशु-पक्षी में, सुर-नर-सिद्ध सर्वदक्षी में।
धर्म और दर्शन रहस्य यह, समझो खुद को सुख ही सुख है॥
ऊपर स्वर्ग-मुक्ति की छाया, नीचे धरती-नर्क बताया।
आत्मधर्म पर बढ़े बिना ना, शांति और संतोष न सुख है॥
यह आत्म मार्ग उसने देखा, जिसने सब को निज-सा लेखा।
समभाव-साधना जो करता, कहता क्या सुख औ क्या दुख है?॥
ज्ञान-ध्यान जप-तप सामायिक, पूजन वंदन शांति प्रदायक।
होते पूर्ण सफल तब सच ये, जब आत्मा पाता निज सुख है॥
विश्व विकल भौतिक वैभव को, जर-जोरु-जमीन-भय-भव को।
जीवनसंघर्ष समझ कहता, जन से जन यह सुख भी दुख है॥
फिर भी रहता आकुल पाने, अपने स्वरूप से अनजाने।
आय जैसा वैसा जाता, सृष्टि-नियम सा सुख-दुख यह है॥

अज्ञानी का मिथ्या अभिप्राय

जैसे कोई चोर ऐसा कहे कि चोरी करना ही मेरा व्यवसाय है... तो वह जेल के बंधन से कब छूटेगा ? उसीप्रकार जो अज्ञानी ऐसा माने कि पर को सुखी-दुःखी करना, वह मेरा कार्य है और शुभाशुभ अपराधभाव, वह मेरे उपयोग का कार्य है—इसप्रकार परभावरूपी अपराध के कर्तृत्व को अपना व्यवसाय माने तो वह चोर इस संसाररूपी जेल के बंधन से कैसे छूटेगा ?

[समयसार बंध अधिकार के प्रवचनों से]

यह ज्ञानस्वरूप आत्मा वास्तव में स्वभाव से तो अबंध है; परंतु अपने ज्ञानस्वरूप को भूलकर, उपयोग को राग में तन्मय करता हुआ, अज्ञान से बँधता है। मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्वभाव ही बंध का मुख्य कारण है। मिथ्यात्व के कारण आत्मा परभाव में एकत्वबुद्धि से परिणमित होता हुआ, शरीरादि की या पर की क्रिया को मैं करता हूँ—ऐसा मानता हुआ बँधता है। मैं दूसरे जीवों को बाँधू या उन्हें छुड़ाऊँ; अथवा मैं दूसरे जीवों को सुखी-दुःखी करूँ—ऐसी अज्ञानी की जो मिथ्याबुद्धि है, वह निरर्थक है; निरर्थक इसलिये है कि उसकी मान्यतानुसार वस्तु जगत में नहीं है। जगत के जीव तो अपने सम्यग्दर्शनादि के अभाव के कारण अपने अज्ञानभाव से स्वयं बँधता है और इसीप्रकार वे अज्ञान का अभाव करके, सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्षमार्ग की साधना द्वारा स्वयमेव मुक्त होते हैं; कोई दूसरा उनका क्या करेगा ?

हे भाई ! जहाँ जीव अपने अज्ञान से ही बँधता है, वहाँ उसे बाँधने का अभिप्राय तू कर या न कर, उससे सामनेवाले जीव में तो कोई अंतर पड़ता नहीं है; तेरे अभिप्राय का कार्य उसमें कुछ भी नहीं होता, इसलिये तेरा अभिप्राय निरर्थक है, मिथ्या है और वह तुझे बंध का कारण है।

इसीप्रकार जीव जहाँ अपने सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग के पुरुषार्थ द्वारा मुक्त होता है, वहाँ उसे मुक्त करने का अभिप्राय तू कर या न कर, उससे सामनेवाले में तो कोई अंतर पड़ता नहीं है, तेरे अभिप्राय का कार्य उसमें तो किंचित् नहीं आता। इसलिये तेरा अभिप्राय निरर्थक है—मिथ्या है और वह तुझे बंध का कारण है।

जो जीव अज्ञानभाव में वर्तता है, वह स्वयमेव अपने अज्ञान से बँधता है, वहाँ अन्य लाख जीव भी उसे छुड़ाने का अभिप्राय करें, तथापि उसे बंधन से छुड़ा नहीं सकते, और जो जीव सम्यक्त्वादि ज्ञानभाव में वर्तते हैं, वे स्वयमेव अपने ज्ञान द्वारा ही बंधन से छूटते हैं, वहाँ

अन्य लाख जीव भी उसे बाँधने का अभिप्राय करें तथापि बंधन में बाँध नहीं सकते; उसे मुक्त होने से कोई रोक नहीं सकता।

इसलिये हे जीव! तू अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप ही जान। परजीव को बाँधे या छुड़ाये, सुखी-दुःखी करे, ऐसा कर्तृत्व तुझमें नहीं है। तू जगत का ज्ञाता है, उसके बदले कर्ता होने जावेगा तो दुःखी होगा।

* तेरा अभिप्राय बाँधने का हो, तथापि सामनेवाले जीव में अज्ञान नहीं होगा तो वह नहीं बँधेगा।

* तेरा बाँधने का अभिप्राय न हो, तथापि यदि सामनेवाले जीव में अज्ञान होगा तो वह बँधेगा।

* तेरा अभिप्राय मुक्त करने का हो, तथापि सामनेवाले जीव में मोक्षमार्ग नहीं होगा तो वह छूट नहीं सकता।

—इसप्रकार सामनेवाले जीव को बाँधने या छुड़ाने का तेरा अभिप्राय हो या न हो, परंतु सामनेवाले जीव तो स्वयमेव उनके अपने भाव से ही बँधते या छूटते हैं, तो तेरी मान्यता ने उसमें क्या किया? उसे बाँधने की या छुड़ाने की तेरी मान्यता तो व्यर्थ गई, निरर्थक हुई—मिथ्या हुई। इसलिये छोड़ यह मान्यता... और ज्ञानस्वभाव में अपनी बुद्धि लगा।

—इसप्रकार बाँधने-छुड़ाने की भाँति मरण या जीवन आदि समस्त अशुभ या शुभ कर्तृत्व के अभिप्रायों में भी मिथ्यापना ही है।

मैं पर को सुखी करूँ, बंधन से छुड़ाऊँ, ऐसा शुभ अभिप्राय भी अज्ञान से भरा है और मैं पर को दुःखी करूँ—बंधन में डालूँ, ऐसा अशुभ अभिप्राय भी अज्ञान से भरा है। इसप्रकार शुभ-अशुभ भेद की मुख्यता नहीं है परंतु दोनों में जो पर के कर्तृत्व का मिथ्या अभिप्राय है, वही बंधन का मुख्य कारण है।

इन्द्रिय विषय-कषायरूपी दुर्दम अश्व, वैराग्यरूपी लगाम और ध्यानरूपी चाबुक से काबू में आता है। इन्द्रियविषय-कषायरूपी सांप को किस तरह रोकना?—कि ध्यानरूप औषधि और वैराग्यरूप मंत्र द्वारा इन्द्रियविषय-कषायरूपी सर्प को रोक जा सकता है।

(भगवती आराधना, पृष्ठ २४९)

निजवैभव दर्शन

स्वगृह में प्रवेश कराते हैं।

मोक्षार्थी की कार्यसिद्धि चैतन्य के अनुभवरूप सम्यग्दर्शन से ही है; इसलिये सच्चा कार्यकर्ता वह है कि जिसने स्वानुभव द्वारा सम्यग्दर्शनरूप कार्य किया है।

इस जगत में भगवान आत्मा सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है; ऐसे आत्मा को दृष्टि में लेकर अनुभव करने में किसी अन्य की या राग की सहायता नहीं है। चैतन्यस्वभाव आत्मा ही सबसे इष्ट पदार्थ है; उसे अन्य कोई पदार्थ न तो इष्ट है और न अनिष्ट है; इसलिये कहीं राग-द्वेष करना उसके स्वरूप में नहीं है। शरीर तो जड़ है और अंतर में पाप या पुण्य की जो वृत्तियाँ उठती हैं, उनसे भी भगवान आत्मा पार है; वह स्वयं आनंदरस से भरपूर है; शुद्धनय द्वारा ऐसी निर्विकल्प वस्तु का अनुभव होता है। यह शुद्धनय स्वयं भी निर्विकल्प है। ऐसे शुद्धनय द्वारा भगवान आत्मा को देखने से अतीन्द्रिय आनंद का वेदन हो, वह धर्म है तथा वह सम्यग्दर्शन की रीति है। ऐसे आत्मा का अनुभव तो बहुत दूर की बात है, उससे पूर्व सत्समागम द्वारा उसका परिचय करके यह बात लक्ष में लेना चाहिये। शुद्धनय का यथार्थ लक्ष भी जीव ने कभी किया नहीं है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने विदेहक्षेत्र में जाकर साक्षात् सीमंधर परमात्मा की दिव्यध्वनि में जो सुना और अंतर में जिसका अनुभव किया, वह इस समयसार में बतलाया है। उसमें कहते हैं कि—अरे जीव! यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा पर से भिन्न है—ऐसी बात रुचि से-प्रीति से तूने कभी सुनी नहीं है, परिचय में या अनुभव में नहीं ली है। वह बात मैं तुझे समस्त निजवैभव से बतलाता हूँ; तो तू भी अपने निजवैभव से अनुभव में लेना। देखो, यह निजवैभव बतलाकर आचार्यदेव स्व-गृह में प्रवेश कराते हैं।

यह चैतन्यभगवान आत्मा चैतन्यलक्षणसहित विराजमान है। इस चेतनालक्षण में कर्मचेतना नहीं है; हर्ष-शोकरूप कर्मफलचेतना भी उसमें नहीं है। चेतनालक्षण तो राग से पार तथा हर्ष-शोक से पार है। जो चेतना आत्मा को चेते-जाने, वही सच्ची चेतना है। अनादि से अज्ञानभाव द्वारा अशुद्ध वेदन कर रहा है, उसके बदले 'मैं ज्ञाता हूँ'—ऐसी अंतर्दृष्टि द्वारा शुद्धता एवं शांति का वेदन भी स्वयं कर सकता है। यह चैतन्य के स्वाद का वर्णन वाणी में नहीं आ सकता। जड़ के स्वाद से पृथक् और राग के स्वाद से भी पार - ऐसा जो शांत-अनाकुल

स्वाद, उसका पिण्ड आत्मा है। इस भाषा में अथवा रेकार्डिंग की पट्टी में तो शब्द उतरते हैं, कहीं अरूपी आत्मा उसमें नहीं उतरता। अरूपी आत्मा जहाँ राग के वेदन में भी नहीं आता, वहाँ जड़ वाणी में तो वह कहाँ से आयेगा? सम्यग्दर्शन की प्रथम कक्षा में अर्थात् धर्म के प्रारम्भिक काल में ऐसा आत्मस्वाद आता है। उसकी महिमा तो अपार है। जिनवाणी माता उसके गुणगान की लोरियाँ गाती हैं... जिसप्रकार माता लोरियाँ गाकर बच्चे की प्रशंसा सुनाकर उसे सुलाती है.. क्योंकि अपनी प्रशंसा उसे प्रिय है, इसलिये सुनकर सो जाता है। उसीप्रकार जिज्ञासु को आत्मा के निजगुण की प्रीति है, इसलिये भगवान तीर्थंकरदेव और उनके प्रतिनिधि संत-मुनिवर जिनवाणीरूपी लोरियों द्वारा गुणगान करके आत्मा को जागृत करते हैं कि—अरे जीव! यह अपनी अचिंत्य महिमा देख! ऐसे आत्मा को दृष्टि में लेकर पश्चात् अंतरलीनता से अतीन्द्रिय आनंद के झूले में झूले, उसका नाम चारित्रदशा और मुनिपना है। ऐसा आत्मा जिसने दृष्टि में लिया, वह पूर्णानंद के पथ पर पहुँचा और मोक्षपथ की ओर मुड़ गया। अहा, चैतन्यानुभव के निकट इन्द्र का इन्द्रासन भी तुच्छ लगता है... चक्रवर्ती का वैभव भी तृण समान भासित होता है। अरे, चैतन्य के अनुभव को किसकी उपमा दी जा सकती है? उसकी उपमा दी जा सके, ऐसा कोई पदार्थ जगत में नहीं है। जहाँ ऐसा आत्मा स्वाद में आया और सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ धर्मी जीव निजकार्य का कर्ता हुआ; वही धर्म का सच्चा कार्यकर्ता है। बाह्यकार्य तो कौन करे?—मोक्षार्थी की कार्यसिद्धि तो चैतन्य के अनुभवरूप सम्यग्दर्शन से ही होती है; इसलिये सच्चा कार्यकर्ता वह है कि जिसने स्वानुभव द्वारा सम्यग्दर्शनरूप कार्य किया।

आत्मा

* आत्मा में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो पर का कार्य कर सके।
* आत्मा में ऐसा कोई गुण नहीं है जो पर का कार्य कर सके।
* आत्मा की पर्याय में ऐसी शक्ति नहीं है जो पर का कार्य कर सके।
* आत्मा के शुभभाव में ऐसी शक्ति नहीं है जो पर का कार्य कर सके।
* आत्मा के अशुभभाव में ऐसी शक्ति नहीं है जो पर का कार्य करे।
* आत्मा में ऐसा कोई गुण नहीं है जो शुभ-अशुभ विकार को करे।
* आत्मा के शुद्धभाव में ऐसी शक्ति नहीं है जो पर का कार्य करे।
* आत्मा में ऐसा स्वभाव है जो न पर को करता है और न विकार को।
* आत्मा में ऐसा स्वभाव है कि वह अपने शुद्धभाव को करता है।
* अहा! पर से कितनी भिन्नता!! विकार से भी कितनी भिन्नता!! आत्मतत्त्व कैसा निरपेक्ष है। अकर्ता स्वभाव... वह मात्र शुद्धता ही का पिण्ड है। इस स्वीकृति से पर्याय में शुद्धता ही विकसित होती है, अशुद्धता दूर होती है। और पर के संबंध से रहित, विकाररहित परम शुद्ध सिद्धपद प्रगटता है। जिसने इस एक आत्मा को जान लिया, उसने दुनिया में जाननेयोग्य सब कुछ जान लिया। (४७ शक्ति के प्रवचन में से)

क्षमा-याचना

गत बैशाख मास के आत्मधर्म का प्रथम अंक निकलने में कई कठिनाइयों एवं कारणवश जो देरी हुई है, उसके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं, और आगमी पत्र समय पर निकलता रहेगा, ऐसी हम आशा करते हैं। —प्रकाशक

भजन

ज्ञान स्वयं महावीर है, आत्म सुदर्शन धार,
चिदानंदघन आप है, अपनी ओर निहार॥
विश्व मर्यादा अटल है, नहिं कोई पलटनहार,
ज्ञाता बन बन सुखी हुवा, आपा समझनहार॥
नां कोई पर का कर सके, नां पर से कोई होय,
स्वयं किये बिन नां रहे, विश्वनियम यह जोय॥
अपना सब कुछ आपमें, पर का सब परमांय,
देख पराई परिणती, मत उसमें लपटाय॥
शरणार्थी पर लक्ष है, करे राग उपयोग,
पुरुषार्थी स्वलक्ष है, करे ज्ञान उपयोग॥
खुद तो निमित्त बनावताँ, पर से संबंध रचाय,
दोष निमित्त का मानता, कुछ भी सूझे नांय॥
देख पराई झोंपड़ी, मत उसमें लपटाय,
आतम को समझाय कर, अपने घर में आय॥
नदी नीरवत् अज्ञधन, हर कोई हर लेत,
कूप नीरवत् विज्ञधन, गुण विन बूंद न देत॥
शांति निज कर्तव्य है, लक्ष रखो निज मांय,
बाहिर अपना क्या धरा, अपना अपने मांय॥
समझ स्वयं बैरिन भई, पर ही पर दरकार,
समझ स्वयं सम्यक् बनी, कर आतम सत्कार॥

(आत्मार्थी)

धर्मात्मा की मुनिभक्ति

श्री मुनिराज आदि धर्मात्मा व्यक्ति अपने घर पधारने पर धर्मबुद्धिवाले जीव को ऐसा अनुभव होता है कि अहा, मेरे घर कल्पवृक्ष आया... मेरे घर धर्मात्मा आया... मेरा धन्य भाग्य हुआ... इसप्रकार उसके हृदय का रोमरोम भक्ति से पुलकित हो जाता है।

वन जंगल में रहनेवाले और आत्मा के आनंद में झूलनेवाले दिगम्बर संत श्री पद्मनंदिस्वामी ने लोभरूपी गहरे कुएँ के गहरे खोह में पड़े जीवों को बाहर निकालने के लिये करुणापूर्वक दान अधिकार का वर्णन किया है। आचार्य संतों को लक्ष्मी आदि की तनिक भी अपेक्षा नहीं होती, वे तो अपरिग्रही संत हैं। परंतु धर्मबुद्धिवाले जीव को धर्म के प्रति कैसा उत्साह प्रेम है, और इस ओर अत्यंत आदर होने से दानादि की कैसी अभिलाषा होती है, यह समझाते हैं। भाई, जो देव-गुरु-धर्म के प्रेम की तुलना में तेरा स्त्री, शरीर, या लक्ष्मी आदि में प्रेम बढ़ जाय तो तेरी रुचि की दशा किस ओर है ? इसका तू विचार कर।

अपने स्वरूप का आनंद प्रकट करके जिसे उसका परमार्थ दान लेना है, उसे पहिले

आत्मा की भूमिका में देव-गुरु-धर्म के प्रति कैसी भक्ति और प्रेम होता है ? यह यहाँ बतलाना है।

इस भरतक्षेत्र में इस चौबीसी में १८ कोड़ाकोड़ी सागरोपम के अंतर से विधिपूर्वक दान लेनेवाले भगवान ऋषभ मुनिराज थे, और दान देनेवाले श्रेयांसकुमार थे, इसी से मंगलाचरण में उनका स्मरण किया है। अहा, धन्य है वह श्रेयांसकुमार का घर... कि जहाँ भगवान ऋषभनाथ ने मुनिदशा में सबसे पहिले आहार लिया।..... पश्चात् मोक्षमार्गरूपी कल्पवृक्ष जिसके घर फला, उस श्रेयांस के धवलयश की क्या बात!! ऋषभदेव मुनि हुए..... छह महीने तो ज्ञानध्यान में ऐसे लवलीन रहे कि आहार की इच्छा ही नहीं हुई..... बाद में जब आहार की इच्छा हुई तो मुनि को आहार देने की क्या विधि है-इसका किसी को ज्ञान नहीं था..... छह महीने के बाद जब हस्तिनापुर नगरी में पधारे, तब इन्हें देखते ही श्रेयांसकुमार को अपने पूर्व के आठवें भव का जातिस्मरणज्ञान हुआ और उस समय ऋषभदेव के जीव (वज्रजंघ) के साथ स्वयं (पत्नी) (श्रीमती) के भव में जिस विधि से मुनियों को आहारदान दिया था, उस विधि का ज्ञान हुआ और नवधाभक्तिपूर्वक भगवान को आहार दिया।

यह दिवस धन्य था—वैशाख सुदी तीज। इस समय श्रेयांसकुमार को ऐसा लगा कि अहा! मेरे घर कल्पवृक्ष आया.... मेरे घर साक्षात् मोक्षमार्ग आया! धन्य भाग्य! धन्य जीवन!

समस्त श्रुतज्ञान आराधना से निबद्ध है;
समस्त श्रुतज्ञान आराधना से भिन्न नहीं है,
समस्त श्रुतज्ञान आराधना का विस्तार है।
(भगवती आराधना, पृष्ठ ६९६)

जिनवाणीरूपी गंगा के प्रवाह को अच्छिन्न रखनेवाली

सौराष्ट्र की श्रुतवत्सल संत त्रिपुटी

(षट्खंडागम की रचना का पावन इतिहास)

(आचार्यदेव धरसेनस्वामी, आचार्य पुष्पदंत-भूतबलिस्वामी)

जिनवाणी के प्रवाह में से अंग-पूर्व के एक देश के ज्ञाता धरसेनाचार्य षट्खंडागम के विषय के ज्ञाता थे। वे सौराष्ट्र देश में गिरनार की चन्द्रगुफा में ध्यान करते थे। नंदिसंघ की पट्टावलि के अनुसार वे महावीरस्वामी की ३१ वीं पीढ़ी में (वीर निर्वाण के लगभग ६४३ वर्ष पश्चात्) हुए थे। वे अंगपूर्वों के एक देश ज्ञाता तथा महान विद्वान, श्रुतवत्सल थे। महावीरस्वामी की परंपरा से चले आ रहे श्रुतज्ञान का प्रवाह अच्छिन्न रहे, ऐसी श्रुतभक्ति से प्रेरित होकर, महिमा नगरी के मुनि सम्मेलन में उन्हें पत्र लिखाया गया।

महिमा नगरी के मुनि सम्मेलन में जब धरसेनाचार्य का पत्र मिला, तब उनके श्रुतरक्षा संबंधी अभिप्राय को जानकर संघ ने दो साधुओं को चुनकर गिरनार भेजा; वे मुनि विद्या ग्रहण करने में तथा उसका स्मरण रखने में समर्थ, अत्यंत विनयी एव शीलवान थे। उनके देश, कुल और जाति शुद्ध थे तथा वे समस्त कलाओं में पारंगत थे। जब वे दो मुनिवर इस ओर आ रहे थे, उसी समय यहाँ धरसेनस्वामी ने ऐस शुभ स्वप्न देखा कि दो श्वेत वृषभ आकर विनयपूर्वक वंदना कर रहे हैं। इस स्वप्न द्वारा उन्होंने जाना कि आनेवाले दोनों मुनि विनयवान तथा धर्म धुरी को वहन करने में समर्थ हैं....

उसी समय 'जयउसुयदेवदा' (श्रुतदेवता जयवंत हो) ऐसे आशीर्वचन उनके मुख से निकले। दूसरे दिन दोनों मुनिवर गिरनार आ पहुँचे और विनयपूर्वक उनके चरणों की वंदना की। दो दिन पश्चात् धरसेनाचार्यदेव ने उनकी परीक्षा की। एक मुनि को अधिक अक्षरोंवाला और दूसरे मुनि को हीन अक्षरोंवाला विद्यामंत्र देकर तथा दो उपवासपूर्वक उसे साधने को कहा। विद्यायें सिद्ध हुई, तब एक देवी बड़े दाँतोंवाली और दूसरी देवी एक नेत्रवाली इसप्रकार कुरूप दिखायी दीं। उसे देखकर चतुर साधुओं ने जान लिया कि अपने मंत्रों में कुछ त्रुटि है; क्योंकि देव विकृतांग नहीं होते। उन्होंने विचारपूर्वक मंत्र में अधिक और हीन अक्षरों को घटा-बढ़ाकर पुनः विद्या की साधना की, जिससे दोनों देवियाँ अपने प्राकृतिक सौम्यरूप में प्रगट हुई। गुरु ने उनकी इस कुशलता से जान लिया कि सिद्धांत पढ़ाने के लिये वे योग्य पात्र हैं। फिर उन्होंने उन्हें सिद्धांत का अध्ययन कराया; वह श्रुताभ्यास असाढ़ शुक्ल ११ के दिन समाप्त हुआ; और उस समय भूत जाति के देवों ने पुष्पोहार के द्वारा शंखादि वाद्यों के मंगलनाद सहित एक साधु की महापूजा की, इसलिये आचार्य ने उनका नाम भूतबलि रखा। दूसरे साधु की दंतपंक्ति अस्तव्यस्त थी वह देवों ने सीधी कर दी, इसलिये उनका नाम पुष्पदंत रखा। यही दोनों आचार्य षट्खंडागम के रचयिता हुए।

इसप्रकार धरसेनस्वामी, पुष्पदंतस्वामी और भूतबलिसवामी इन श्रुतवत्सल संतों की त्रिपुटी ने एक साथ सौराष्ट्र की धरा को पावन करके श्रुत का प्रवाह बहाया है।

षट्खंडागम में सत्प्ररूपणा अधिकार के कर्ता पुष्पदंतस्वामी हैं और शेष समस्त ग्रंथ के कर्ता श्री भूतबलि स्वामी हैं। भूतबलि आचार्य ने षट्खंडागम की रचना पुस्तकारूढ़ करके तथा उसे ज्ञान का उपकरण मानकर जेठ शुक्ला पंचमी के दिन चतुर्विध संघ के साथ अंकलेश्वर में उस श्रुत की महा पूजा की, इसलिये उस दिन की प्रख्याति जैनों में श्रुतपंचमी के रूप में चली आ रही है और उस दिन श्रुत की पूजा की जाती है।

इस षट्खंडागम सिद्धांत पर महान विस्तृत धवला टीका के रचयिता श्री वीरसेनाचार्य की महिमा के संबंध में श्री जिनसेनस्वामी ने कहा है कि—'षट्खंडागम में उनकी वाणी अस्खलितरूप से प्रवर्तती थी। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञा को देखकर किसी बुद्धिमान को सर्वज्ञ की सत्ता में शंका नहीं रही थी।' [पारदृश्वाधि विश्वानां साक्षादिव स केवली] वीरसेनस्वामी की धवला टीका ने षट्खंडागम के सूत्रों को चमका दिया।

नमस्कार हो इन जिनवाणी रक्षक श्रुतवत्सल संत भगवतों को। *(ब्र० हरिलाल जैन)*

सिद्ध पद के साधक श्रुतधर संत

श्रुत पंचमी

भगवंत संतों के कहे हुए श्रुत-(शास्त्र) अतीन्द्रिय आत्मसुख की रुचि कराके बाह्य विषयों से विरक्ति कराते हैं।

नमस्कार हो उस श्रुत को और श्रुतप्रकाशक सन्तों को!

आज श्रुतपंचमी का अर्थात् ज्ञान की अखंड आराधना का पवित्र दिवस है। भगवान तीर्थंकरदेव की वाणी की अच्छिन्न धारा को परम दिगम्बर संतों ने प्रवाहित कर रखा है; वह वाणी सिद्धस्वरूपी शुद्धात्मा का प्रकाशन करती है। अंतर में सिद्धपद को साधते-साधते भावश्रुतधारक संतों ने भगवान की वाणी झेलकर द्रव्यश्रुत की परम्परा भी बना रखी है।

जो अंतर्मुख होकर गिरिगुफामें स्वानुभव द्वारा चैतन्य की आराधना करते थे—ऐसे संतों ने (धरसेन, पुष्पदंत और भूतबलि स्वामी ने) षट्खण्डागमरूप में भगवान की जिस वाणी को सुरक्षित रखा, उसके बहुमान का महामहोत्सव आज अंकलेश्वर (गुजरात) में मनाया गया था। उसके टीकाकार श्री वीरसेन स्वामीजी महान समर्थ अगाध बुद्धि के सागर थे। अहा, श्रुत के समुद्र समान उन दिगम्बर संतों को देखते ही सर्वज्ञ की तथा जिनशासन की प्रतीति हो जाती थी। सिद्धपद की आराधना कैसे हो—वह बात इन संतों ने सिद्धांत में (पंचास्तिकाय आदि में) बतलायी है। सिद्धपद कैसा है ?—

स्वयमेव चेतक सर्वज्ञानी सर्वदर्शी होत है;
अर निज अमूर्त अनंत अव्याबाध सुख को अनुभवे।

(पंचास्तिकाय : २९)

आत्मा में ज्ञान-दर्शन-सुखस्वभाव है; उसमें क्लेश नहीं है। अहा, निरालम्बी आत्मदशा! सिद्ध भगवंत पूर्ण निरालंबी हुए हैं; सिद्धपद की साधना करनेवाले संत-मुनि की दशा भी अंतर में अत्यंत निरालंबी होती है। जिसमें वस्त्रादि का भी आलंबन नहीं है—ऐसा मुनिपद अंतर की अत्यंत निरालंबी दशा के बिना नहीं होता। सिद्धपद के साधक उस संत मुनि को चैतन्य में ऐसी लीनता हुई है कि बाह्य का अवलंबन छूट गया है। ऐसे संत सिद्धपद को

साधते-साधते कभी शास्त्रों की रचना करके जगत पर उपकार करते हैं। धरसेनस्वामी, पुष्पदंतस्वामी, भूतबलीस्वामी, यतिवृषस्वामी, वीरसेनस्वामी आदि संतों ने सिद्धपद को साधते-साधते सिद्धांतशास्त्रों की (षटखंडागम तथा कषायप्राभृत की) रचना करके भगवान की वाणी के प्रवाह को अक्षुण्ण रखा है। उन संतों की दशा अलौकिक थी। वह 'षटखण्डागम' (तथा धवल-महाबन्ध-जयधवल टीका) आदि भी अध्यात्मग्रंथ हैं; गुणस्थानादि में आत्मा के सूक्ष्म परिणामों का उनमें बोध कराया है। उस षटखण्डागम की समाप्ति का महामहोत्सव चतुर्विध संघ ने अंकलेश्वर में दो हजार वर्ष पहले श्रुतपंचमी के दिन किया था—वही महान दिवस आज का है—(ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी)।

—ऐसे संत कहते हैं कि अरे जीव! तू ज्ञान-दर्शन सुख से भरा हुआ है, उसमें दृष्टि नहीं करता और बाह्य विषयों में दृष्टि करके क्लेश भोगता है। बाह्य विषय—कि जिनमें तेरा अस्तित्व ही नहीं है—उनमें तू सुख मानता है, और अपने का ओर नहीं देखता कि जिसमें अनंत सुख भरा है... फिर तुझे सुख कहाँ से प्राप्त होगा? बाह्य विषयों में जहाँ तू सुख मानता है, वहाँ वास्तव में सुख नहीं परंतु दुःख ही है-क्लेश ही है। अपने स्वभाव में दृष्टि कर तो विषयों के क्लेशरहित अतीन्द्रिय शांत सुख भरा है। उसमें न कोई अंकुश है, न कोई विघ्न है। तुझे परमेश्वर को देखना और परमेश्वर होना हो तो परमेश्वर की खोज अपने आत्मा में ही कर। पूर्ण ज्ञान और पूर्ण सुख का अचिंत्य ऐश्वर्य तुझमें ही भरा है। स्वकीय सुख के अनुभव में पर से कोई प्रयोजन नहीं है; उसमें पर का किंचित् अवलंबन नहीं है, पर की कोई ओट या आधार नहीं है; अपने स्वभाव की ही ओट लेने से आत्मसुख का अनुभव होता है—ऐसा तेरा अस्तित्व है।

अरे रे, जीव दुःख बाँधने के अनेक परिणाम करते हैं और दुःख भोगते समय हाय-हाय मचाते हैं। सुख की इच्छा रखते हैं परंतु सच्चे सुख का उपाय नहीं करते। इन्द्रिय सुखों में ही सुख मानकर उसमें अटके रहते हैं, परंतु उसमें तो दुःख का ही अनुभव है; किंचित् सुख नहीं है। सुख क्या है, उसकी तो जीव को खबर भी नहीं है, तो वेदन कहाँ से होगा? जहाँ विषयातीत सुख का एक अंश भी वेदन में आये, वहाँ सारे जगत के विषयों के अवलंबन की बुद्धि उड़ जाये और सर्व विषयों से विरक्ति हो जाये।

भगवंत संतों द्वारा कथित श्रुत-शासन अतीन्द्रिय आत्मसुख की रुचि कराके बाह्य विषयों से विरक्ति कराते हैं;—ऐसे श्रुत को और श्रुतधर संतों को नमस्कार हो!

षट्खंडागमरूप अमृत का फल

(लेखक ब्र० हरिलालजी जैन)

सर्वज्ञ परंपरा से आये हुए षट्खंडागम की प्रामाणिकता दर्शाकर उन जिनवाणीरूप अमृत के अभ्यास का फल मोक्ष बतलाकर आचार्यदेव ने मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को जिनवाणी के अभ्यास की प्रेरणा की है। धवल पुस्तक ९, पृष्ठ १३२-३३ में श्री वीरसेन स्वामी, वीर जिनेन्द्र के मोक्षगमन बाद लोहाचार्य तक की परम्परा दिखाकर पश्चात् कहते हैं कि- लोहाचार्य का स्वर्गगमन होने पर आचारांगरूपी सूर्य अस्त हो गया। पीछे के आचार्य उन सब अंग-पूर्व के एकदेशरूप 'पेज्जदोस' और 'महाकम्मपयडि पाहुड' आदि शास्त्र के धारक हुए, इसप्रकार प्रमाणीभूत महर्षिरूप प्रणाली द्वारा आकर महाकर्म प्रकृति-प्राभृतरूपी अमृतजल प्रवाह धरसेन भट्टारक को प्राप्त हुआ।

उन्होंने भी गिरिनगर की चंद्रगुफा में संपूर्ण महाकर्म प्रकृति-प्राभृत भूतबली और पुष्पदन्त मुनियों को अर्पित किया। पश्चात् श्रुतरूपी नदी के प्रवाह के व्युच्छेद के भय से भूतबली भट्टारक ने भव्यजनों के अनुग्रहार्थ महाकर्म प्रकृति-प्राभृत का उपसंहार करके छह खंड (षट्खंडागम) की रचना की अतः त्रिकाल विषयक समस्त पदार्थों को विषय करनेवाले प्रत्यक्ष केवलज्ञान द्वारा प्रभावित होने से और प्रमाणीभूत आचार्यों की परंपरा से आने के कारण दृष्ट-इष्ट विरोध का अभ्यास होने से यह ग्रन्थ प्रमाणरूप है। (पश्चात् उनके अभ्यास की सिफारिस करते हुये श्री वीरसेनस्वामी कहते हैं कि—)

इस कारण मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को इसका अभ्यास करना चाहिये परंतु 'यह ग्रन्थ तो अल्प है (बारह अंग का अल्प ही भाग है) अतः वह मोक्षरूपी कार्य के उत्पन्न करने में असमर्थ है'—ऐसी शंका न करना; क्योंकि अमृत के सौ घड़े पीने का जो फल है, वह एक अंजलि प्रमाण अमृत पीने में भी प्राप्त होता है।

परमश्रुत षट्खंडागम

जो श्रुत के बहुमान में श्रुतपंचमी जैसा पर्व चला आया और थोड़े ही वर्षों के पहले जिन शास्त्रों का दर्शन भी मुश्किल था, उस पवित्र जिनवाणी षट्खंडागम की ताड़पत्र पर लिखी हुई मूलप्रति के (यहाँ सामने दिये हुए चित्र में) दर्शन होते हैं। ये प्रतियाँ अभी भी मूडबिद्रि के सिद्धांतबस्ति नाम के मंदिर में विराजमान हैं। सभी यात्रीगण अत्यंत भक्तिपूर्वक उसके दर्शन करते हैं, और हम सबको पूज्य कानजी स्वामीजी के साथ दो बार उस जिनवाणी के दर्शन-स्पर्शन का महाभाग्य मिला है। चित्र में सात ताडपात्र दिख रहे हैं उनका परिचय:—

१. यह ताडपत्र षट्खंडागम-धवल टीका ग्रंथ का है, उसके मध्य में पाँच तीर्थंकरों के चित्र हैं दोनों छोर पर प्रवचन करते हुए आचार्य और श्रोता-श्रावकों का दृश्य है।

२. यह भी धवलग्रंथ का है, बीच में तीर्थंकरदेव विराजमान हैं और दोनों ओर ७-७ भक्तजन वंदना कर रहे हैं।

३. यह ताड़पत्र ऊपर कन्नड लिपि में हस्तलिखित धवल शास्त्र है।

४. यह ताड़पत्र ऊपर कन्नड लिपि में महाबंध टीका जो छठवें खंड की टीका है।

५. यह ताड़पत्र श्री जयधवल टीका ग्रंथ का है जो कषाय पाहुड सूत्र की टीका है, उस पत्र के दोनों ओर चित्र है दूसरे छोर पर श्री बाहुबलि भगवान का चित्र है।

६. यह महाधवल (महाबंध टीका) का २७वाँ पत्र है बीच में कन्नड़ लिपि में लेख तथा दोनों छोर पर चित्र है।

७. यह ताड़पत्र 'त्रिलोकसार' ग्रंथ का है। उनमें जिसका वर्णन है, उनके चित्र उस पत्र में दिये हैं, बीच में तीन लोक का चित्र है, नंदीश्वर, जंबुद्वीप, छह परावर्तन दर्शक काल चक्र, समवसरण, ढाईद्वीप आदि के चित्र हैं।

यह प्रतियाँ देखकर उनके मूल लेखकों ने श्रुतज्ञान की कितनी भक्तिपूर्वक उनका आलेखन किया होगा... ? वह देखने में आता है। श्रुतज्ञान सैकड़ों वर्षों से इन ताड़पत्रों की रक्षा करते आये हैं। आज हमारे महाभाग्य से उनका प्रकाशन हुआ, हम स्वाध्याय कर सकते हैं, षट्खंडागम में पाँच खंड की टीका धवला १६ पुस्तक और छठवें खंड की टीका महाबंध जिनकी ७ पुस्तक हैं और कषायपाहुड़ की टीका जयधवला है, जिनकी ९ पुस्तक छप गईं, शेष

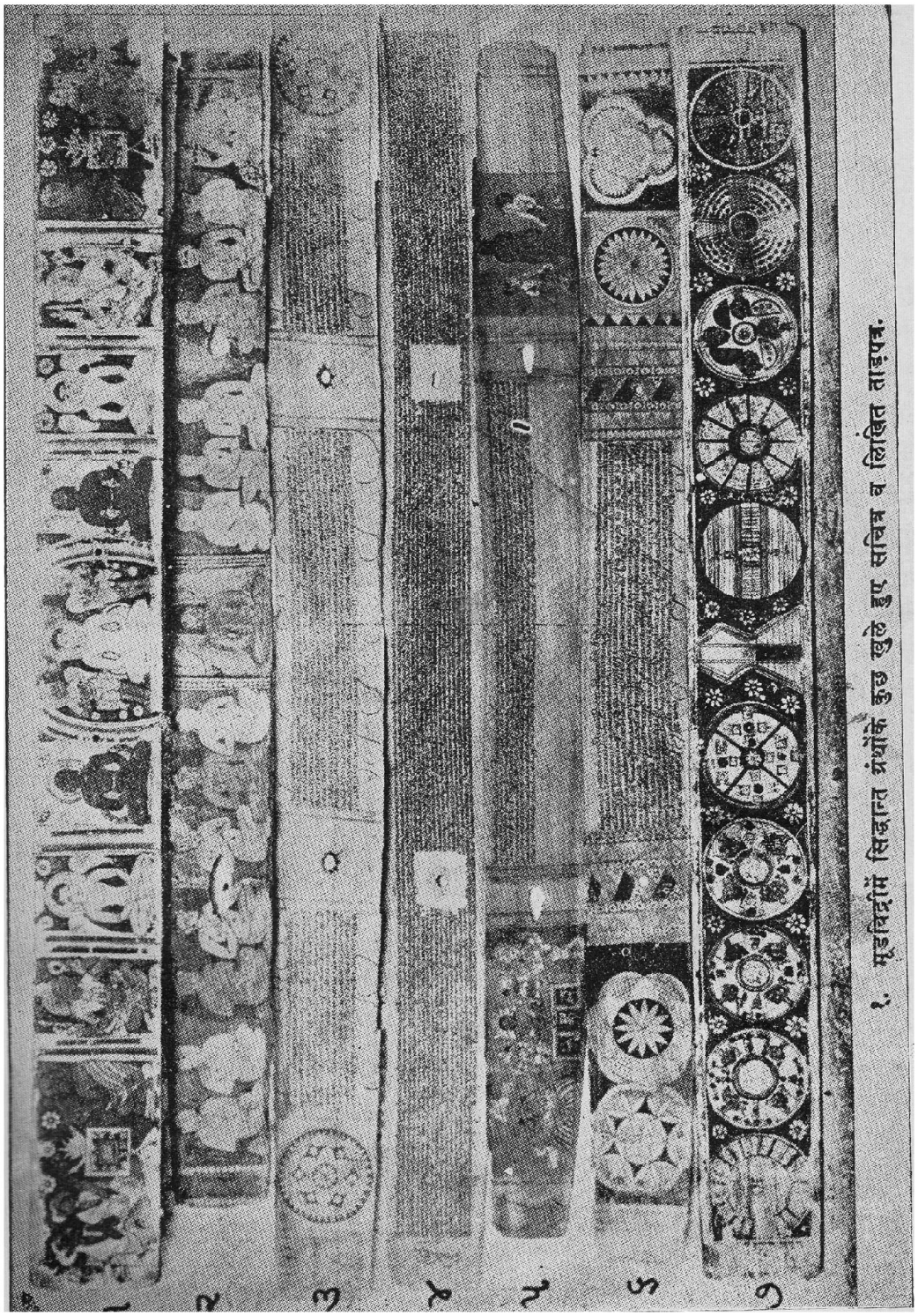

१. मूडबिद्रीमें सिद्धान्त ग्रंथोंके कुछ खुले हुए सचित्र व लिखित ताड़पत्र.

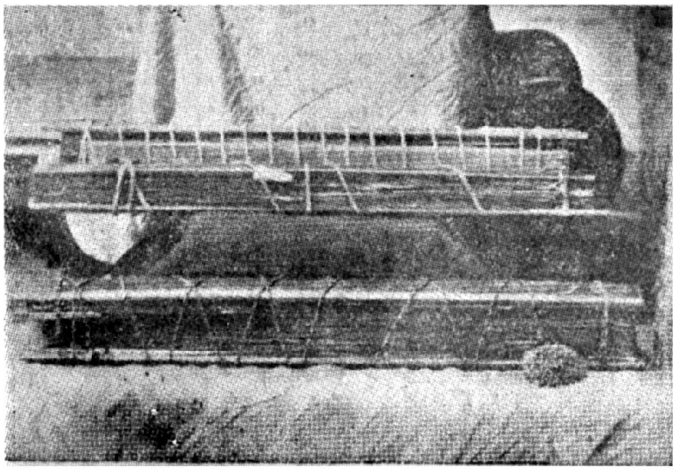

२. मूडबिद्री में सिद्धांत ग्रंथों की प्रतियाँ बँधी हुई

षट्खंडागम आदि सिद्धांत ग्रंथों की ताड़पत्रीय प्रति

नीचे से ऊपर :—प्रथम प्रति धवल टीका की है, दूसरी महाधवल अर्थात् महाबंध, तीसरी जयधवल की है, यह पवित्र श्रुत के प्रताप से मुडबिद्री दक्षिण देश का पावन तीर्थ बना है।

३. मूडबिद्री में सिद्धांत मंदिर
(गुरुबसदि)

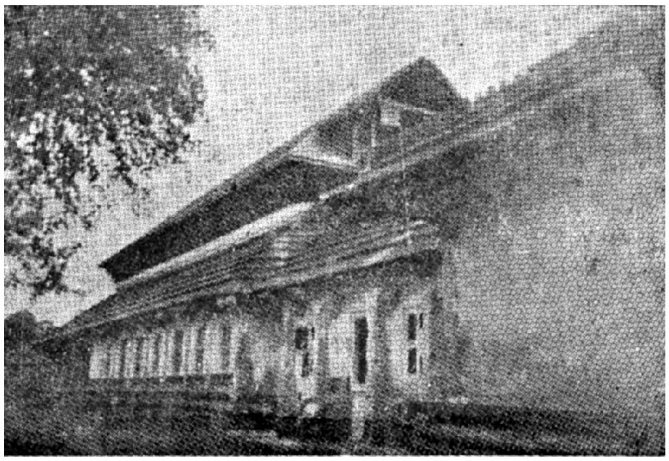

'षट्खंडागम' आदि जिनवाणी की ताड़पत्रीय प्रतियां इस जिनमंदिर में विराजमान हैं। सुप्रसिद्ध अति प्राचीन रत्नमणि के ३५ जिनबिम्ब भी इस मंदिरजी में विराजमान हैं। पूज्य कानजीस्वामी के साथ हमने दो बार इस पावन तीर्थ की यात्रा की है और अत्यंत भक्ति से जिनबिम्बों के तथा जिनवाणी के दर्शन किये हैं।

प्रकाशन रुक रहा है जिसकी जिज्ञासुजन बड़ी उत्सुकता से राह देखते हैं। इन धवल सिद्धांत के ताड़पत्रों की लंबाई २ फुट, चौड़ाई २ इंच है। पत्रों की संख्या ५९२ है – प्रत्येक पत्र पर करीब १४ पंक्ति हैं प्रति पंक्ति में करीब १३८ अक्षर हैं, जो श्लोक संख्या अंदाज १२० ३/४ होती है, संपूर्ण ग्रंथ ७१४८४ श्लोक जितना है।

(धवल टीका में करीब ७२००० श्लोक माने जाते हैं।)

मूडबिद्री में धवल सिद्धांत की ताडपत्रीय-प्रति एक ही नहीं है किंतु तीन हैं। महाधवल के ताडपत्रों की लंबाई दो फुट चार इंच और चौड़ाई ढाई इंच है, पृष्ठ संख्या २०० है। ताडपत्रों के बीच में दो छेद दिखाई देते हैं जो डोरी पिरोकर बांधने के लिये है। एक वजनदार सूई द्वारा लिखने से ताडपत्र में अक्षर खुद जाते हैं और फिर उनमें स्याही भरने से वे अक्षर स्पष्ट पढ़े जा सकते हैं।

जयधवल सिद्धांतक ताडपत्र की लम्बाई सवा दो फुट और चौड़ाई ढाई इंच है, पृष्ठ संख्या ५१८ है।

पवित्र सिद्धांत की यह प्रतियाँ मूडबिद्री के जिस जिनमंदिर में विराजमान हैं उसका चित्र सामने दिया गया है, उस मंदिर को 'सिद्धांत मंदिर' सिद्धांतबसदि अथवा गुरुबसदि कहा जाता है। उसमें मूलनायक पार्श्वनाथ भगवान हैं। सुप्रसिद्ध रत्नमय जिनबिम्ब भी इसी मंदिर में विराजमान हैं। इसप्रकार जहाँ जिनदेव और जिनवाणी विराज रहे हैं, ऐसे इस मूडबिद्री तीर्थधाम को नमस्कार हो। उस पावन श्रुत के जन्मधाम राजगृही-विपुलाचल तीर्थ को नमस्कार हो। श्रुतधर संतों ने जहाँ उस श्रुत का प्रवाह मुनियों को दिया, उस पवित्र गिरनार—चंद्रगुफा को नमस्कार हो और और संतों ने उस पावन श्रुत को पुस्तकारूढ़ करके जहाँ श्रुत की महा पूजा की उस श्रुतधाम अंकलेश्वर को नमस्कार हो।

भावश्रुतधारी सर्व वीतरागी संतों को नमस्कार हो। (ब्र० हरिलाल जैन)

विविध-समाचार

सोनगढ़—

तारीख १-६-६६ जैन दर्शन शिक्षण वर्ग सुचारुरूप से चल रहा है, तीन कक्षा में २५० करीब शिक्षणार्थी बाहर गाँवों से आये हुए हैं, पढ़ाई में मोक्षमार्गप्रकाशक, जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला, जैन सिद्धांत प्रवेशिका, छहढाला आदि चल रहे हैं। गुना (म०प्र०) में तारीख ६-६-६६ से १५ दिन तक शिक्षण शिविर चलेगा।

जयपुर में जैन धार्मिक शिक्षा-योजना

इसका शुभारम्भ तारीख १५ मई से बड़े दीवानजी के मंदिर में सवेरे और रात्रि ८ बजे ठोलियों के मंदिर में आयोजित किया गया है। पूर्ण लाभ लेने की प्रार्थना है।

धार्मिक शिक्षण केन्द्र—समय—प्रातः ७ से ९ बजे।

(१) श्री महावीर स्कूल (नगर विभाग)
(२) श्री पद्मावती कन्या पाठशाला
(३) जैनदर्शन विद्यालय (चाकसू-चौक)
(४) खिंदूकों की धर्मशाला (चौक मोदीखाना)
(५) गोदीकों का चैत्यालय (चौक मोदीखाना)
(६) श्री दिगम्बर जैन संस्कृत कोलेज, जयपुर
(७) श्री डुंगरसीजी का मंदिर (टिक्कीवालों का रास्ता)
(८) श्री विजेराम पांड्या का मंदिर (दरीबा पान)
(९) दर्शन विद्यालय बापूनगर
(१०) दर्शन विद्यालय आदर्शनगर

विनीत—

१. पूर्णचंद गोदीका, अध्यक्ष श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल बापूनगर; तथा
मुख्य कार्यालय : सेठी भवन, हनुमानजी का रास्ता।
२. छुट्टनलाल बिलाला, प्र० मंत्री
दिम्बर जैन मुमुक्षु मंडल (त्रिपोलिया बाजार)

जयपुर से श्री नेमीचंदजी पाटनी का पत्र—

तारीख २५-५-६६ यहाँ पर जो बालकों को जैनधर्म की शिक्षा देने की योजना चालू की थी, वह बहुत सफलता से चल रही है, जैसी कि आशा नहीं थी, तारीख १५ को २०० बच्चों से शुरुआत हुई, आज सब सेंटरों पर मिलाकर ८०० बच्चे आने लगे हैं। कभी-कभी मिठाई बांटी जाती है, बच्चे स्वयं बच्चों को लाते हैं।

इंदौर में जैन धर्म शिक्षण वर्ग का अपूर्व आयोजन

व्य० श्री जैनधर्म शि० सं० समिति, इंदौर के (कार्यालय-३१, मल्हारगंज, मेनरोड, इंदौर) तत्त्वावधान में २ मई से तारीख २२ मई तक दि० जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट के सहयोग और मार्गदर्शन में यह कार्यक्रम एक अपूर्व एवं अलौकिक वातावरण पूर्वक सफल सम्पन्न हुआ।

शिक्षणवर्ग की प्रतिदिन प्रातः ७ से ८ तीन कक्षाएँ, दोपहर २ से ३ चार कक्षाएँ, रात्रि ७ से ८ तीन कक्षाएँ, इसप्रकार प्रतिदिन दस कक्षाएँ लगती थी। जिनमें करीब ६८० प्रौढ़ तथा २७० तरुण पुरुष, महिलायें, बालक-बालिकायें मिलाकर प्रतिदिन ९५० धर्मप्रेमी व्यक्तियों ने लाभ उठाया। जैन सिद्धांत प्रवेशिका, जैन सि० प्रश्नोत्तरमाला, छहढाला के माध्यम से मास्टर सा० धर्मचंदजी, पंडित धन्यकुमारजी, मा० धीरजभाई, श्री नवीनभाई ने कक्षा का योग्यतापूर्वक संचालन किया। शिक्षण वर्ग उद्घाटन समारोह श्री पंडित बंसीधरजी शास्त्री (इंदौर) की अध्यक्षता में आयोजित किया गया था।

सुप्रसिद्ध विद्वान श्री पंडित खेमचंदभाई (सोनगढ़) ने उद्घाटन विधि सम्पन्न की। दोनों विद्वानों ने अपनी-अपनी शैली से जैनधर्म के महत्त्व पर समुचित प्रकाश डाला। शिक्षणवर्ग की समाप्ति पर पाँच कक्षाओं के बालक-बालिकाओं ने परीक्षा में भाग लिया, जिसमें २२ को विशेषरूप में पुरस्कृत किया गया।

इन दिनों में धर्म जिज्ञासु शिक्षार्थी भाईयों एवं बहिनों के साथ ही जन साधारण को भी जैन तत्त्वज्ञान का सहीरूप स्पष्टता से समझ में आ सके, इस हेतु हमेशा प्रातः ७ से ८ बजे तथा रात्रि ८ से ९ प्रवचन के कार्यक्रम का भी २१ दिन तक आयोजन किया गया।

प्रवचन हेतु देश के सुप्रसिद्ध विद्वानों को निम्नानुसार आमंत्रि किया गया। (१) श्री पंडित खेमचंदभाई, सोनगढ़, (२) श्री पंडित हिम्मतलालभाई, बम्बई, (३) श्री पंडित

लालचंदभाई, राजकोट, (४) श्री पंडित बाबूलालभाई, फतेपुर

प्रात: प्रवचनों में विभिन्न विद्वानों ने अपनी विशिष्ट शैलियों में श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित अलौकिक आध्यात्मिक शास्त्र श्री समयसार परमागम की विभिन्न गाथाओं के माध्यम से नय विभाग सहित शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से जीवतत्त्व का विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया।

रात्रि के प्रवचन में हजारों की संख्या में जैन जैनेतर भाई-बहिन ठीक समय पर उपस्थित रहते थे।

रात्रि प्रवचनमाल की पहली किस्त के रूप में पंडित खेमचंदभाई ने सम्यग्दर्शन, सम्यक् प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना का स्वरूप, जिनेन्द्र पूजा के महत्त्व और द्रव्य पूजा के अन्तर्हित भावों को अपनी मौलिक 'बोलों' की शैली में प्रस्तुत किया।

अंतिम तीन विद्वानों ने सर्व साधारण के लाभ एवं हित की दृष्टि से अपने-अपने ढंग से प्रमुखरूप से मोक्षमार्गप्रकाशक; छहढाला के माध्यम से ७ तत्त्व की भूल के प्रयोजनभूत विषय का सरलतापूर्वक अनेक लौकिक उदाहरणों के साथ विवेचन किया।

दोपहर ३ से ४ तक १७ दिन तत्त्वचर्चा का सार्वजनिक कार्यक्रम आयोजित किया गया। जिसमें उक्त चारों विद्वानों ने भाग लेकर सैंकड़ों जिज्ञासु भाईयों तथा बहिनों की अनेक शंकाओं का समुचित रूप से समाधान कर जैन तत्त्वदर्शन का सही एवं स्पष्टरूप विद्वानों एवं जन साधारण के सन्मुख प्रस्तुत किया।

इन सभी कार्यक्रमों में जन साधारण के अतिरिक्त प्रमुख स्थानीय विद्वानों, पंडितों तथा उदासीन आश्रम के त्यागी वर्ग ने भी उत्साहपूर्वक भाग लिया।

शिक्षणवर्ग एवं प्रवचनों के इस अभूतपूर्व कार्यक्रम की समाप्ति का समारोह पंडित श्री नाथुलालजी शास्त्री, इंदौर की अध्यक्षता में तारीख २२ मई को आयोजित किया गया।

फतेपुर निवासी पंडित बाबूभाई इस समारोह के प्रमुख अतिथि थे। लगभग ५००० व्यक्तियों की उपस्थिति में रात्रि प्रवचन स्थल क्लोथ मार्केट के महावीर चौक में यह कार्यक्रम दो घंटे तक चलता रहा। प्रारम्भ में शिक्षण समिति की ओर से संक्षिप्त रिपोर्ट प्रस्तुत की गई। पश्चात् पंडित बंसीधरजी शास्त्री ने अपने संक्षिप्त भाषण में संपूर्ण कार्यक्रम की सफलता पर हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, जैनधर्म के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को समाज के सामने सही

रूप में प्रस्तुत करने के लिये, दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के योगदान की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। पश्चात् श्री बाबूभाई तथा शिक्षक बन्धुओं का शिक्षण समिति के अतिरिक्त लगभग ३५ संस्थाओं तथा अनेक व्यक्तियों द्वारा पुष्पहारों से स्वागत किया गया। साथ ही समिति की ओर से अतिथियों को धार्मिक ग्रंथ भेंट किये गये। अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए पंडित श्री नाथुलालजी शास्त्री ने सोनगढ़ ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित आध्यात्मिक साहित्य के सच्चे मर्म को नहीं समझनेवाले लोगों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट शब्दों में विश्लेषणात्मक ढंग से इस कथन की सत्यता प्रतिपादित की कि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि ही आत्म कल्याण हेतु परम उपादेय है। आपने कई उदाहरणों द्वारा इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि आध्यात्मिक आस्था के बिना कोई भी व्यक्ति तथा समाज सच्चे व्यवहार धर्म का पालन नहीं कर सकता तथा सत्य चारित्रता का आधार शुद्धात्मदृष्टि ही हो सकती है। पुरस्कार वितरण के पश्चात् प्रमुख अतिथि श्री बाबूभाई ने अपनी लोकप्रिय शैली में दैनिक स्वाध्याय के महत्व पर समुचित प्रकाश डाला। सामाजिक दृष्टिकोण से श्रावकों के कर्तव्यों की विवेचना करते हुए तीर्थरक्षा के पुनीत कार्य के लिये भी उपस्थित जन समुदाय को तन-मन-धन न्योछावर करने की प्रेरणा दी। शिक्षण समिति के कार्यकर्ताओं को इस अपूर्व आयोजन की सफलतापूर्वक संचालित करने के लिये बधाई देते हुए श्री बाबूभाई ने अपना भाषण समाप्त किया।

रतनलाल गंगवाल
सभापति
श्री जैनधर्म शिक्षण संयोजन समिति

नया प्रकाशन

श्रीमत्भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित

श्री नियमसारजी शास्त्र (दूसरी आवृत्ति)

सर्वज्ञ वीतराग कथित महान आध्यात्मिक भागवत् शास्त्र, ११ वीं शती के अध्यात्मरस के सर्वोत्तम कवि शिरोमणि श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिवरकृत संस्कृत टीका तथा अक्षरश: प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद सहित शास्त्र जिसकी तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा काफी जोरों से मांग है, पूर्णरूप से संशोधित, यह ग्रंथ महान, अनुपम, पवित्र तत्त्वज्ञान की अपूर्व निधि समान है। पृष्ठ संख्या ४१५, बड़ी साइज में, रेगजीन कपड़े की सुन्दरतम जिल्द मूल्य बहुत कम कर दिया है। मात्र ४/- पोस्टेजादि अलग। देश-विदेश में, कोलेज-विश्वविद्यालयों में-सर्वत्र सुंदर प्रचार के योग्य अत्यंत सुगम और सब प्रकार से सुंदर ग्रंथ है। जिज्ञासुगण शीघ्र ओर्डर भेजें।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

खास निवेदन

आत्मधर्म मासिक पत्र द्वारा २१ साल से सर्वज्ञ वीतराग कथित पवित्र तत्त्वज्ञान का प्रचार हो रहा है। २१ वें वर्ष का चंदा चैत्र मास में समाप्त हो जाता है। खुशी समाचार यह है कि—हमारी संस्था के भूतपूर्व प्रमुख श्री रामजीभाई स्मारक की ओर से इस एक वर्ष के लिये आत्मधर्म का चंदा घटाकर 'दो रुपया' रखा है। मुमुक्षु मंडलों को प्रार्थना है कि ज्यादा से ज्यादा संख्या में आत्मधर्म के नये ग्राहक बनाकर और चालू ग्राहकों से मिलकर आत्मधर्म का चंदा एकत्र करके मनिआर्डर या चैक से भेजने का कष्ट कीजियेगा, ताकि आगामी ग्राहक संख्या का अंदाजा हम लगा सकें। ग्राहक के नाम पूर्ण पते के साथ रेलवे स्टेशन, पोस्ट का जिले का साफ नाम, नये ग्राहक या पुराने ग्राहक ऐसा अवश्य लिखें, प्रथम से ही जिन्होंने चंदा जमा कराया है, भेज दिया है वह भी हमको पत्र द्वारा सूचित करें, आपका ग्राहक नं० भी अवश्य लिखें। वैशाख मास से ही आत्मधर्म बड़ी साइज में, चित्र, कथा, विशेष लेख सहित प्रकाशित हो रहा है। वी०पी० करने में बड़ी कठिनाई रहती है, आशा है कि शीघ्र उपरोक्त सहयोग देंगे।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट (आत्मधर्म विभाग)
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५–०
प्रवचनसार	४–०
नियमसार	४–०
पंचास्तिकाय	४–५०
आत्मप्रसिद्धि	४–०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५–०
स्वयंभू स्तोत्र	०–६०
मुक्ति का मार्ग	०–६०
समयसार प्रवचन भाग १	नहीं है
समयसार प्रवचन भाग २	नहीं है
समयसार प्रवचन भाग ३	नहीं है
समयसार प्रवचन भाग ४	४–०
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]	
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१–०
'' ''द्वितीय भाग	२–०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०–६०
भाग–२ ०–६० भाग–३	०–६०
योगसार–निमित्त उपादान दोहा	०–१२
श्री अनुभवप्रकाश	०–३५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१–०
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०–७५
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६–०
अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१–५०

[डाकव्यय अतिरिक्त]

जैन बाल पोथी	०–२५
छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०–१५
छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०–८७
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२–५०
सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१–८५
जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१–४५
अपूर्व अवसर प्रवचन और श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०–८५
भेदविज्ञानसार	२–०
अध्यात्मपाठ	३–०
भक्ति पाठ संग्रह	१–०
वैराग्य पाठ संग्रह	१–०
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०–१५
स्तोत्रत्रयी	०–५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०–२५
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३–०
'' फाईलें सजिल्द	३–७५
शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०–१२
जैनतत्त्व मीमांसा	१–०
बृ०मंगल तीर्थयात्रा सचित्र गुजराती में ग्रन्थ का मात्र	१८) ६–०

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।